मेरे अब्बा जान

(मौलाना मौदूदी रह०)

सैयदा हुमैरा मौदूदी

अनुवाद

मौलाना नसीम ग़ाज़ी फ़लाही

विषय-सूची

‘बिसमिल्लाहिर्रहमानिर्रहीम’

“अल्लाह के नाम से जो बड़ा मेहरबान, निहायत रह्‌मवाला है”

दो शब्द

इनसानों से भरी इस दुनिया में कुछ ऐसे लोग भी होते हैं जो मरकर भी ज़िन्दा रहते हैं। वे अपनी ज़िन्दगी की मुद्दत पूरी करके इस दुनिया से चले जाते हैं, लेकिन उनकी ख़िदमात और कारनामों की वजह से उनके वुजूद को महसूस किया जाता है। वे उन पेड़ों की तरह होते हैं जिनका साया दूर तक और देर तक बाक़ी रहता है और वे लोगों को अपने फलों से फ़ायदा पहुँचाते रहते हैं। इन्हीं लोगों में एक नाम इस्लाम के बड़े आलिम मौलाना सैयद अबुल-आला मौदूदी रह॰ (1903-1979 ई॰) का है।

यह किताब मौलाना सैयद अबुल-आला मौदूदी (रह॰) की बड़ी बेटी सैयदा हुमैरा मौदूदी की एक बेहतरीन रचना है। इसमें उन्होंने बीसवीं सदी ईसवी के दो महान इनसानों की घरेलू एवं ख़ानदानी ज़िन्दगी पेश की है। इनमें पहला इनसान तो ख़ुद सैयद अबुल-आला मौदूदी (रह॰) हैं जो न सिर्फ़ अपने घर, ख़ानदान और रिश्तेदारों के लिए, बल्कि अपनों और परायों सबके लिए साएदार पेड़ की तरह थे। सही बात तो यह है कि उनकी नज़र में अपने और पराए का फ़र्क़ था ही नहीं। वे सारे इनसानों को एक बिरादरी के तौर पर देखते थे और दिन-रात उनकी दुनिया और आख़िरत की कामयाबी की फ़िक्र में लगे रहते थे। इस्लामी तहरीक (आन्दोलन) का क़ियाम उनकी इसी फ़िक्र का नतीजा है। दूसरा इनसान मौलाना सैयद अबुल-आला (रह॰) की बीवी महमूदा बेगम (मृत्यु 2003) हैं जो इस किताब की लेखिका की माँ भी हैं। ये ऐसी मिसाली औरत हैं जिन्होंने ख़ामोशी के साथ अपने अख़लाक़ व किरदार, ईसार व क़ुरबानी और तालीम व तरबियत से पूरी तहरीक को मज़बूत किया। इस किताब को पढ़ने से ही अन्दाज़ा होता है कि मौलाना मौदूदी की दीनी व तहरीकी और तहरीरी (लेखन-सम्बन्धी) सरगर्मियों में उनकी बीवी किस हद तक शामिल रही हैं और मुस्लिम उम्मत पर उन्होंने

क्या-क्या एहसान किए हैं।

इस किताब को लिखनेवाली सैयदा हुमैरा मौदूदी, मौलाना मौदूदी की बड़ी बेटी हैं। वे अंग्रेज़ी में पोस्ट ग्रेजुएट हैं। जद्दा (सऊदी अरब) के एक कॉलेज में अंग्रेज़ी अदब की टीचर रही हैं। लेकिन ख़ुद की दिलचस्पी से उन्होंने अरबी और इस्लामी तालीमात में भी ग़ैर-मामूली सलाहियत हासिल कर ली है। अब तक़रीर और तबलीग़ के ज़रिए से इस्लाम को फैलाना ही उनकी ज़िन्दगी का अस्ल काम है।

इस किताब को लिखकर उन्होंने अपने माँ-बाप की नेक और फ़रमाँबरदार औलाद होने का सुबूत तो दिया ही है, साथ ही हम मुसलमानों पर बड़ा एहसान किया है कि इस किताब के ज़रिए से हमें मौलाना (रह०) की घरेलू बातें और ख़िदमात को जानने का मौक़ा मिला। हक़ीक़त यह है कि इस किताब को पढ़ते हुए मौलाना की अज़मत सामने आती है और हम अपनी आँखों के आँसू रोक पाने में नाकाम होते हैं। अल्लाह से दुआ है कि वह इस कोशिश को क़बूल फ़रमाए और लोगों को इससे फ़ायदा उठाने की तौफ़ीक़ दे।

इस्लामी साहित्य ट्रस्ट (रजि० दिल्ली) इस्लाम और मुसलमानों के बारे में हिन्दी ज़बान में किताबें तैयार करने के मुबारक काम में लगा हुआ है। इस किताब को हिन्दी में पेश करते हुए हमें बेहद ख़ुशी हो रही है। यह किताब इस्लाम की दावत का काम करनेवालों के दिलों में नई रूह फूँके, ऐसी हमारी तमन्ना है।

नसीम ग़ाज़ी फ़लाही
सेक्रेट्री
इस्लामी साहित्य ट्रस्ट
(दिल्ली)

गुज़ारिशें

2003 ई॰ का साल मौलाना सैयद अबुल-आला मौदूदी के हवाले से एक यादगार साल था। उनकी पैदाइश के 'सौवें साल को बुनियाद बनाते हुए' इस साल के दौरान न सिर्फ़ पाकिस्तान में, बल्कि दूसरे देशों में भी मुख़्तलिफ़ इल्मी इदारों में चर्चा और सेमिनारों के ज़रिए से उनकी याद ताज़ा की गई। इसके साथ अलग-अलग लेखों और किताबों के ज़रिए से भी इस महान इनसान की इल्मी और दीनी ख़िदमात की अहमियत को तसलीम किया गया। यह एतिराफ़ (स्वीकृति) और ये तज़किरे जो उनकी याद में किए गए, उनकी ईमानी ग़ैरत, मुजाहिदों जैसी हिम्मत व हौसला और इल्मी दूरदर्शिता का पता देते हैं। सैयद मौदूदी उन 'बहादुर मुसाफ़िरों' में से थे जिनके बारे में इक़बाल कह गए हैं—

'निशाने-राह दिखाते थे जो सितारों को
तरस गए हैं किसी मर्दे-राह दाँ के लिए'

'तर्जुमानुल-क़ुरआन' मासिक, लाहौर की दो ख़ास पेशकश (हिस्सा-1, अक्टूबर 2003, हिस्सा-2 अप्रैल 2004) इन्हीं यादगारों का हिस्सा थीं। इन पेशकशों में शामिल तहरीरों में इन्द्रधनुष के रंग बिखरे हुए थे, पाक जज़बों की आँच थी और लिखनेवालों ने इन्हें पूरे सलीक़े और बेहतरीन अन्दाज़ में लिखा था। इन्हीं में मौलाना मौदूदी (रह॰) की बेटी हुमैरा मौदूदी (जन्म-22 जुलाई 1940 ई॰ दिल्ली) का लेख 'शजर हाए सायादार' सामने आया। हक़ीक़त यह है कि सब्र से गुंधे, आँसुओं से लिखे और ख़ुशबू के रूप में ढले इस लेख में रहमान के बंदे और एक आशिक़े-रसूल की क़ीमती ज़िन्दगी की परछाई थी।

'अर्मग़ाने-आख़िरत है लज़्ज़ते-इश्क़े-रसूल'

तर्जुमानुल-क़ुरआन में एक छोटा-सा लेख ही छापा जा सकता था।

लेकिन इस बात की सख़्त ज़रूरत महसूस हुई कि इस गुलदस्ते में और बहुत-से फूल शामिल किए जाएँ। लगातार ज़रूरत और तक़ाज़ों के जवाब में, यादों के चमन से जो फूल उगते और खिलते गए, उन्हें इकट्ठा किया तो यह लेख पाँच गुना बड़ा हो गया जिसे अब किताब की शक्ल में पेश किया जा रहा है।

बेशक यह किताब सैयद मौदूदी (रह०) और उनके घर-परिवार के लोगों की ज़िन्दगी के उन हालात की एक झलक है, जिससे बाहर के लोग वाक़िफ़ नहीं थे और जिन्हें पढ़कर पाठक अपनी ज़िन्दगियाँ अल्लाह की राह में खपाने का हौसला पाएँगे। इन शाअल्लाह!

बहुत-सी क़िस्तों में लिखे गए अलग अन्दाज़ के इस बेजोड़ लेख के संकलन के बाद, इसे प्रोफ़ेसर रफ़ीउद्दीन हाशिमी साहब ने भी एक नज़र देखा और इसमें बहुत-से सुधार किए।

अल्लाह इस सदक़ा-ए-ज़ारिया को क़बूल फ़रमाए। सैयद मौदूदी (रह०) ने ज़िन्दगी का एक-एक पल, अपने सारे रिश्ते और अपने पूरे जज़बात, ज़िन्दगी के जिस मक़सद के लिए लगा दिए, अल्लाह तआला उस चिराग़ को रौशन रखे और उसे, उनके तैयार किए हुए क़ाफ़िले को सीधे रास्ते पर चलते रहने का ज़रिआ बनाए। आमीन्।

सलीम मंसूर ख़ालिद

सच्चे हालात

अब्बा जान सैयद अबुल-आला मौदूदी (रह०) पूरी मुस्लिम उम्मत का सरमाया (पूँजी) थे। उनकी यादें भी उम्मत की अमानत हैं। इसी सिलसिले में मैंने कुछ यादें तर्जुमानुल-क़ुरआन के ख़ास शुमारे (मई 2004) छपने के लिए पेश की थीं।

दूसरों को सब्र की नसीहत करना बहुत आसान है, लेकिन ख़ुद सब्र करना बहुत मुश्किल। सब्र सबसे कड़वा घूँट है और मैंने अपनी दादी अम्मा और अपने माँ-बाप को सारी ज़िन्दगी यह कड़वा घूँट बूँद-बूँद पीते और कमाल दर्जे का सब्र करते देखा है। इस तरह यह दास्तान सब्र के घूँटों की दास्तान है।

'आँख में है वह क़तरा जो गौहर (मोती) न बन सका।'

लेकिन ये आँसू आँखों ही में रहे, कभी पलकों से टपकने न पाए। उन्हें कभी टपकने की इजाज़त नहीं दी गई। क्योंकि दादी अम्मा ने कह दिया था—

"रोते के साथ कोई रोता नहीं है, जबकि हँसतों के साथ सब हँसते हैं। रोनेवालों का तो दुनिया तमाशा देखती है।"

सही तौर पर आज यह कहा जाता है कि बीसवीं सदी मौलाना सैयद अबुल-आला मौदूदी (रह०) की सदी थी, जिन्होंने अपनी रचनाओं (तसनीफ़ात व लेखों) के ज़रिए से अफ़कार की दुनिया में इंक़िलाब पैदा किया और इस्लामी दुनिया की ज़्यादातर इस्लामी तहरीकों ने उनके ज़रिए से चलाई गई तहरीक से ख़ुराक हासिल की। लेकिन याद रखिए कि किसी लेखक की महान रचनाएँ तभी वुजूद में आती हैं जब उसके घर, ख़ानदान और क़रीबी लोग उसे ज़ेहनी सुकून और चैन पहुँचाएँ।

ये सिर्फ़ यादें नहीं हैं, बल्कि एक महान इनसान जिनको सैयद क़ुतुब शहीद (रह॰) ने 'अल-मुस्लिमुल-अज़ीम' (महान मुसलमान) के नाम से याद किया है और एक महान सपूत के महान माँ-बाप और उनकी महान जीवन साथी के सब्र व हौसले की दास्तान है। आज की महान इस्लामी तहरीक एक ऐसे घर से शुरू हुई जिसमें छोटे-छोटे नौ बच्चे थे, माँ थीं और बहुत ही कमज़ोर सेहतवाली दमे की मरीज़ जीवन-साथी थीं। अगर इस घर के लोग एक पल के लिए भी सब्र का दामन हाथ से छोड़ देते, या किसी तरह की लापरवाही कर जाते तो यह सब कुछ ऐसा न होता, जैसा कि आज नज़र आ रहा है। तहरीक, अमल और क़ियादत (नेतृत्व) का ताल्लुक़ बहरहाल इनसानों और उनके रवैयों से होता है। कोई मोर्चे की पहली लाइन में और कोई पिछली लाइन में होता है और कुछ लोग ज़ाहिरी तौर पर मोर्चे पर नज़र भी नहीं आते, मगर लड़ाई में उनका एक रोल होता है। इसलिए यह दास्तान अस्ल में तमाम उम्र की क़ुरबानी, त्याग और ख़ुद्दारी की दास्तान है। पर्दा सरकाकर 'इस घर' की एक झलक जो इस किताब में दिखाई गई है, उससे पढ़नेवालों को कुछ थोड़ा-सा अन्दाज़ा हो पाएगा कि

'देखें क्या गुज़रे है क़तरे पर गौहर होने तक'

रिसाले के सीमित पेजों की वजह से 'शजर हाए सायादार' (दादी अम्मा, अब्बा जान और अम्मा जान) के बारे में कुछ ज़्यादा नहीं लिखा जा सका था..........इसलिए अब इन्हें कुछ नई चीज़ों की बढ़ोत्तरी के साथ दोबारा पढ़नेवालों के सामने पेश किया जा रहा है। उम्मीद है कि इसको पढ़ते हुए पढ़नेवालों महसूस करेंगे कि उनके सामने इन महान हस्तियों की तस्वीर साफ़ और रौशन होती जा रही है।

हुमैरा मौदूदी

अब्बा जान (रह॰)

अल्लाह तआला जब किसी इनसान से कोई बड़ा काम लेना चाहता है तो उसके लिए शुरू ही में ऐसे साधन उपलब्ध कर देता है कि वह अपनी उम्र के शुरुआती दौर ही में अपनी मंज़िल व मक़सद को चुन करके पूरी लगन और यकसूई के साथ उसे हासिल करने की कोशिश करता है। अब्बा जान (सैयद अबुल-आला मौदूदी) अहले-बैअत से ताल्लुक़ रखनेवाले एक ख़ानदान के सपूत थे, जिसने पहले हरात की तरफ़ और फिर अपने ख़ानदान के एक शख़्स क़ुतबुद्दीन मौदूद चिश्ती रह॰ (1039-1133 ई॰) के ज़माने में हिन्दुस्तान की तरफ़ हिजरत की। सैयद क़ुतबुद्दीन चिश्ती (रह॰) सिलसिले के सबसे बड़े बुज़ुर्ग थे। यह सिलसिला क़ुरआन व सुन्नत की पाबन्दी का ख़ास तौर से ध्यान रखता है। हमारे दादा अब्बा (सैयद अहमद हसन रह॰ 1855-1920 ई॰) ने वकालत का पेशा तो अपनाया था, लेकिन अकसर ऐसा होता कि इबादत और तक़्वा व परहेज़गारी की तरफ़ उनकी तबीयत का झुकाव उन्हें मजबूर कर देता जिसकी वजह से वे अपने वकालत के पेशे को बहुत ज़्यादा वक़्त नहीं दे पाते और फिर जिस मुक़द्दमे को सच्चाई और इनसाफ़ के मुताबिक़ पाते सिर्फ़ उसी की पैरवी करते थे।

इबादतगुज़ारी की ज़िन्दगी के इसी दौर में हैदराबाद दकन (अब महाराष्ट्र) के शहर औरंगाबाद में 25 सितम्बर 1903 ई॰ में अब्बा जान का जन्म हुआ और वहीं परवरिश हुई। उनकी शख़्सियत व्यक्तित्व पर उनके अब्बा जान की तरबियत का बड़ा गहरा असर था। वे उन्हें बचपन ही से अपने साथ मस्जिद ले जाते थे। अपने ज़माने के आलिम, फ़ाज़िल लोगों की मजलिसों में बिठाते थे। क़ुरआन मजीद की सूरते याद करवाते। अरबी और बेहतरीन उर्दू बोलने क़ी तालीम उनको दादा अब्बा ही ने दी थी।

दादा अब्बा हमारे अब्बा जान को रातों में अल्लाह के पैग़म्बरों (अलैहि॰) के सच्चे क़िस्से, बुज़ुर्गों के हालात और इस्लामी तारीख़ की कहानियाँ

सुनाते। बहुत ही दिलचस्प अन्दाज़ में इस्लामी अक़ीदे उनके ज़ेहन में डालते और उनपर दीनी रंग चढ़ाने की कोशिश करते। आम हालात में भी उन्हें अख़लाक़ और तहज़ीब को सँवारने व सुधारने का हमेशा ख़याल रहता था बेहतरीन क़िस्म की उर्दू ज़बान सिखाने की तरफ़ भी ख़ास ध्यान देते। अब्बा जान कहा करते थे, "अब्बा जान अगर मुझमें कोई ख़राब आदत देखते तो उसे मुझसे छुड़ा दिया करते थे। एक दिन मैंने अपने नौकर के बच्चे को मार तो उन्होंने उसे बुलाया और कहा, 'जैसे इसने तुम्हें मारा है तुम भी इसे मारो।' इस घटना ने मुझे ऐसा सबक़ सिखाया जो सारी ज़िन्दगी मेरे काम आता रहा और फिर ज़िन्दगी-भर किसी कमज़ोर पर मेरा हाथ नहीं उठ सका।"

मदरसे भेजने से पहले घर पर ही अब्बा जान की तालीम का इन्तिज़ाम किया गया। इसके बारे में उन्होंने एक जगह लिखा है—

"मेरा ताल्लुक़ एक ऐसे ख़ानदान से है, जिसमें नसीहत व हिदायत और दुर्वेशी का सिलसिला तेरह सौ (1300) सालों से चला आ रहा है। इस ख़ानदान के एक मशहूर बुज़ुर्ग मौलाना अबू-अहमद अबदाल चिश्ती (रह०) (मृत्यु-965 ई०) हज़रत हसन मुसन्ना-बिन-हज़रत इमाम हसन (रज़ि०) की औलाद से थे। ख़्वाजा नासिरुद्दीन अबू-यूसुफ़ (रह०) के बड़े बेटे ख़्वाजा क़ुतबुद्दीन मौदूद चिश्ती (रह०) थे, जो हिन्दुस्तान के तमाम चिश्ती सिलसिलों के सबसे बड़े शेख़ और मौदूदी ख़ानदान के सबसे बड़े बुज़ुर्ग हैं। उस वक़्त अंग्रेज़ी तालीम और अंग्रेज़ी तहज़ीब के ख़िलाफ़ मुसलमानों में जो सख़्त नफ़रत फैली हुई थी उसका हाल सब जानते हैं, मगर हमारा ख़ानदान इसमें आम मुसलमानों से कुछ ज़्यादा ही आगे बढ़ा हुआ था। क्योंकि यहाँ मज़हब के साथ-साथ मज़हबी पेशवाई भी शामिल थी। अब्बा जान और अम्मा जान दोनों की ज़िन्दगी एक ही मज़हबी रंग में रंगी हुई थी। उनकी इस तरबियत और परवरिश का यह असर था कि शुरू ही से मेरे दिलो-दिमाग़ पर मज़हब का गहरा असर छा गया। अब्बा जान ने पहले दिन से उर्दू और फ़ारिसी के साथ अरबी ज़बान, फ़िक़्ह और हदीस के सीखने पर लगा दिया।"

]ब्बा जान ने अपने एक मशहूर उस्ताद के बारे में बताया

"उस ज़माने में दिल्ली में मौलाना अब्दुस्सलाम नियाज़ी साहब (रह०) मृत्यु-1954 ई०) फलसफ़ा, हिसाब और मंतिक़ (तर्क-शास्त्र) वग़ैरा के माहिर]। उनके बोलने का अन्दाज़ इतना अच्छा था कि घण्टों तक उनकी बात]ुनने के बाद भी आदमी का दिल नहीं भरता था। वे मेरे अब्बा जान से]हुत लगाव रखते थे। अब्बा जान ने मेरे बचपन ही में उनसे कह दिया था]के इसे अरबी पढ़ाना। इसलिए बचपन में भी मैंने उनसे पढ़ा था। जब अब्बा]ान ने दबी ज़बान से पूछा कि आप पढ़ाने की फ़ीस क्या लेंगे? तो उन्होंने]वाब दिया कि 'मैं इल्म बेचता नहीं हूँ।' (वाह, क्या ज़माना था वह भी!]आज तो ट्यूशन सेंटर के नाम से गली-गली इल्म की टोकरियाँ लिए उस्ताद]ैठे इल्म बेच रहे हैं!) मतलब यह कि वे पढ़ाने की कोई फ़ीस नहीं लेते थे।]फेर जब 'अल-जमीअत' दिल्ली की इदारत (सम्पादन) के ज़माने में जब मैंने]उनसे गुज़ारिश की कि 'कुछ किताबें रह गई हैं उन्हें पढ़ना चाहता हूँ', तो]फ़ौरन मान गए। फ़रमाया, 'सुबह की अज़ान के वक़्त मेरे मकान पर आ]जाया करो।' उनका मकान हमारे मकान से काफ़ी दूर लगभग दो कि० मी०]के फ़ासले पर तुर्कमान दरवाज़े के क़रीब तेलियों की गली में था। मैं पाबन्दी]से सुबह की अज़ान के साथ ही उनके दरवाज़े पर मौजूद होता। किसी दिन अगर पढ़ाने के लिए तबीयत न करती तो अन्दर ही से कह देते, 'भई सैयद बादशाह! आज तबीयत हाज़िर नहीं है, कल आना।'

लगभग इसी ज़माने में दिल्ली के एक कारख़ानेदार ने भी मौलाना नियाज़ी से फ़रमाइश की कि 'आप सबको पढ़ाते हैं मगर मेरे बेटों को नहीं पढ़ाते'— इसपर मौलाना ने जवाब में कहा, 'क्या करूँ तेरे लड़कों के सिर में भेजा ही नहीं है! तू उन्हें भाड़े के टट्टुओं (ट्यूशन पढ़ानेवालों) से पढ़वा, मैं उन्हें नहीं पढ़ा सकता।'

मौलाना (अब्दुस्सलाम रह०) चिश्ती सिलसिले से जुड़े हुए थे। 'नियाज़ी' नाम का ताल्लुक़ भी एक बुज़ुर्ग नियाज़ अहमद बरेलवी (रह०) से लगाव और अक़ीदत की बिना पर था— वे बुज़ुर्ग भी चिश्ती थे। (क्योंकि) हमारा ख़ानदान हिन्दुस्तान में चिश्ती सिलसिले का पेशरो (लीडर) है, इस बिना पर

बुज़ुर्ग और उस्ताद होने के बावजूद मौलाना नियाज़ी (रह०) मेरी बहुत इज़्ज़त करते थे, और इसी बिना पर मुझे 'सैयद बादशाह' कहकर पुकारते थे।''

यह 1924 ई० की बात है, जब अब्बा जान रात के तीसरे पहर नींद से जागते और मुग़ल बादशाह शाहजहाँ के दौर से आबाद दिल्ली के कूचा पंडित से चलकर मौलाना नियाज़ी (रह०) के दरवाज़े पर जा दस्तक देते। कहा जाता है कि उस दौर के हिन्दुस्तान में, फ़लसफ़ा, मंतिक़, हिसाब वग़ैरा के इल्म और अरबी अदब साहित्य में कोई एक आदमी भी उनके बराबर नहीं था। आज़ाद तबीयत के आदमी थे। ज़िन्दगी-भर किसी की नौकरी नहीं की इत्र बनाकर अपनी रोज़ी-रोटी कमाते थे और ख़ानकाहों में क़व्वालियाँ सुनते थे। किसी को पढ़ाने की कोई फ़ीस क़बूल नहीं करते थे। अल्लाह तआला ने इस नायाब उस्ताद को अब्बा जान की तालीत व तरबियत का ज़रिअ बनाया, जिन्हें न तो देवबन्द, नदूदवतुल-उलेमा या मदरसा मज़ाहिरुउल-उलूम से इल्म हासिल करने का मौक़ा मिला और न अब्बा जान के इन्तिक़ाल की वजह से वे अलीगढ़ पढ़ने जा सके। बहुत-से उलमाए-किराम ने अब्बा जान को सिर्फ़ इस वजह से दीन का आलिम मानने से इनकार कर दिया कि न वे किसी दारुल-उलूम से ताल्लुक़ रखते थे और न किसी यूनिवर्सिटी ही से अपनी तालीम पूरी की थी। अब यह अल्लाह की क़ुदरत है कि आज दुनिया की बड़ी-बड़ी यूनिवर्सिटियों में उनकी किताबों और उनके अफ़कार और उनकी चलाई हुई तहरीक पर रिसर्च हो रही है और तहक़ीक़ी मक़ाले (शोध लेख) लिखे जा रहे हैं।

पाकिस्तान बन जाने के बाद मौलाना अब्दुस्सलाम नियाज़ी (रह०) के एक शार्गिद ने, जो दिल्ली में रहते थे, पाकिस्तान आने का इरादा किया आख़िरी मुलाक़ात के लिए मौलाना नियाज़ी के पास हाज़िर हुए और कहा 'लाहौर जा रहा हूँ!' मौलाना अब्दुस्सलाम नियाज़ी (रह०) ने उन्हें हिदायत की कि लाहौर जा रहे हो तो वहाँ मेरे शार्गिद दो भाई रहते हैं, सैयद अबुल-ख़ैर मौदूदी रह० (25 दिसम्बर 1899 ई० से 28 अगस्त 1979 ई०) और सैयद अबुल-आला मौदूदी (रह०), उनसे ज़रूर मिलना। पहले छोटे के पास जाना और फिर बड़े के पास। इसके बाद ला इला-ह इल्लल्लाह के मानी पर ग़ौर

करना।

मौलाना नियाज़ी (रह०) के बात करने का अन्दाज़ यही था।

आइए देखें कि इस घर के रहनेवाले और इसके वासी कैसे थे। एक ऐसा बेहतरीन इनसान कि जिसके बारे में अपने दौर ही के एक बहुत बड़े आलिम ने यह बात कही थी और फिर अल्लामा इक़बाल (रह०) के ये शेअर पढ़ें—

हर लहज़ा है मोमिन की नई शान नई आन
गुफ़तार में, किरदार में, अल्लाह की बुरहान
यह राज़ किसी को नहीं मालूम कि मोमिन
क़ारी नज़र आता है हक़ीक़त में है क़ुरआन

दिसम्बर 1926 ई० के आख़िर में 'शुद्धि आन्दोलन' के स्थापक स्वामी श्रद्धानन्द का एक मुसलमान (क़ाज़ी अब्दुर्रशीद) ने क़त्ल कर दिया। इस क़त्ल पर बहुत-से हिन्दू भाइयों ने एक हंगामा खड़ा कर दिया कि इस्लाम ख़ून-ख़राबा सिखाता है। गाँधी जी (मृत्यु-1948 ई०) ने तो यहाँ तक कह दिया कि 'इस्लाम की फ़ैसला करनेवाली चीज़ पहले भी तलवार थी और आज भी तलवार है।'

इस बारे में अब्बा जान लिखते हैं, "यह हंगामा एक मुद्दत तक बड़े ज़ोरो-शोर से जारी रहा। मौलाना मुहम्मद अली जौहर (रह०) (मृत्यु-4 जनवरी 1931 ई०) ने इससे तंग आकर दिल्ली की जामा मस्जिद में जुमे का ख़ुतबा देते हुए नम आँखों से कहा, 'काश कोई अल्लाह का बन्दा इन इलज़ामों के जवाब में इस्लाम में जिहाद के सही तसव्वुर पर एक तफ़सीली किताब लिखे और इसमें जिहाद के ख़िलाफ़ उठाए गए सारे ऐतिराज़ों का जवाब दलीलों के साथ दे।' ख़ुतबा सुननेवालों में एक मैं भी था। मैं जब वहाँ से उठा तो यह सोचता हुआ जामा मस्जिद की सीढ़ियाँ उतरने लगा कि क्यों न अल्लाह का नाम लेकर मैं ही अपनी-सी कोशिश करूँ।"

1927 ई० में अब्बा जान ने 'अल-जिहाद फ़िल-इस्लाम' के बारे में अख़बार 'अल-जमीअत' दिल्ली में क़िस्तवार लिखना शुरू किया। जब

अख़बार के पन्ने इस बहस के लिए कम पड़ गए तो इसके लिए अलग से पूरी किताब लिखी। उस वक़्त अब्बा जान की उम्र सिर्फ़ 24 साल थी। इस बेमिसाल किताब में अब्बा जान ने जिहाद की अस्ल हक़ीक़त और अहमियत दलील और सुबूतों के साथ वाज़ेह कर दी।[1] उन्होंने मज़बूत और रद्द न की जा सकनेवाली दलीलों से साबित किया कि इस्लामी जिहाद, अल्लाह की राह में हक़ और सच्चाई के लिए मरबूत, मुनज़्ज़म (व्यवस्थित) और लगातार कोशिश का नाम है। यह बिलकुल भी कोई ज़ुल्म व नाइनसाफ़ी से भरा हुआ क़त्ल व ख़ून-ख़राबा नहीं है।

इससे मज़लूमों (उत्पीड़ितों) की हिफ़ाज़त की जाती है, कोई ख़ुफ़िया साज़िश नहीं है। यह तामीर व तरक़्क़ी के लिए अनथक व बेहतरीन कोशिश का नाम है, कोई ख़ुफ़िया काम नहीं है। यह जंग और अम्न का इस्लामी क़ानून है। एक इस्लामी मुजाहिद, दुश्मनों की भी हिफ़ाज़त और मदद करनेवाला बनकर ग़ैर-मुल्क में क़दम रखता है, वह क़ैदियों के साथ इनसानी बर्ताव करता है और औरतों, बच्चों, बूढ़ों और बीमारों पर हाथ नहीं उठाता और इबादतगाहों की हर तरह से हिफ़ाज़त करता है।

इस्लामी जिहाद की यह सही तस्वीर आज की नाम-निहाद (कथित) मुहज़्ज़ब और रौशन ख़याल कहलानेवाली ग़ैर-मुस्लिम ताक़तों को उसी तरह तहज़ीब और इनसानियत का सबक़ देती है, जिस तरह पहले ज़माने के बहुत ही ताक़तवर और सभ्य देशों को इसने इनसानियत का सबक़ दिया था। हक़ीक़त यह है कि जंग और अम्न के जितने भी मुहज़्ज़ब क़ानून जो 'जेनेवा कन्वेशन' और अक़वामे-मुत्तहिदा की सलामती कोंसिल ने बनाए हैं वे सब इस्लामी जिहाद के उसूलों से हासिल किए गए हैं।

इस किताब में इस्लामी जिहाद के ख़िलाफ़ यहूदियों, ईसाइयों और हिन्दुओं के नकारात्मक और नाइनसाफ़ी से भरे प्रोपेगंडे का दलीलों पर आधारित जवाब दिया गया है जिसके बाद उनके पास कहने को कुछ नहीं बचता। अस्ल में यह मसला पहले भी बहस का विषय बना रहा है और आज

---

1. सैयद अबुल-आला मौदूदी-'अल-जिहाद फ़िल-इस्लाम', प्रकाशक : दारुल-मुसन्निफ़ीन, आज़मगढ़, यू॰पी॰, प्रथम संस्करण, 1348 हि॰/1930 ई॰

भी दुनिया में वक़्त का सबसे अहम विषय बना हुआ है। मगर अफ़सोस यह है कि इसकी अस्ल हक़ीक़त मुसलमानों और ग़ैर-मुस्लिमों दोनों की निगाहों से ओझल रही है। अल-जिहाद फ़िल-इस्लाम किताब की सूरत में शाए होकर सामने आई तो उसे पढ़कर अल्लामा मुहम्मद इक़बाल (रह॰) ने फ़रमाया, 'इस्लामी जिहाद का नज़रिया और उसके अम्न व जंग के क़ानूनों पर यह एक बेहतरीन किताब है और मैं हर पढ़े-लिखे आदमी को मश्वरा देता हूँ कि वह इसको पढ़े।' यही किताब बेमिसाल फलॉस्फर, शायर और इस्लामी विचारक अल्लामा इक़बाल (रह॰) के साथ अब्बा जान के परिचय और ताल्लुक़ का ज़रिआ बनी, यहाँ तक कि अल्लामा इक़बाल (रह॰) ने 1937 ई॰ में अब्बा जान को लाहौर बुलाया, ताकि पूरे सुकून और इत्मीनान के साथ बैठकर जिहाद, इजतिहाद और इल्म व तरबियत के तमाम कामों को आगे बढ़ाया जा सके।[1] मानो क़ुदरत ने अगले ही साल अल्लामा इक़बाल (रह॰) के इन्तिक़ाल (21 अप्रैल 1938 ई॰) से पैदा होनेवाली ख़ाली जगह को भरना अब्बा जान के नसीब में लिख दिया था।

यह लाहौर सरज़मीन भी अजीब सरज़मीन है जो कभी सूफ़ियों और अल्लाह के नेक और इबादतगुज़ार बन्दों से खाली नहीं रही। सैयद अली हुजवीरी (1009 ई॰-1072 ई॰) मशहूर इस्लामी बुज़ुर्गों में से हैं, जिनसे इस मुल्क की बड़ी आबादी अक़ीदत रखती है। ख़्वाजा निज़ामुद्दीन औलिया रह॰ (मृत्यु-1335 ई॰) फ़रमाते हैं कि सैयद हुजवीरी अपने उस्ताद की हिदायत पर अल्लाह के दीन को फैलाने के लिए सुल्तान महमूद ग़ज़नवी (मृत्यु-8 अप्रैल, 1030 ई॰) के बेटे नासिरुद्दीन मसऊद के ज़माने में लाहौर आए थे। उनसे पहले उनके पीर भाई जनाब हुसैन ज़ंजानी (रह॰) यहाँ दीन की ख़िदमत रहे थे। जब सैयद अली हुजवीरी को लाहौर आने का हुक्म हुआ तो उन्होंने शैख़ से कहा कि वहाँ हुसैन ज़ंजानी मौजूद हैं, मेरी क्या ज़रूरत है? लेकिन शैख़

---

1. डॉ॰ जावेद इक़बाल : 'ज़िन्दारूद' भाग-3 पृ॰-613, सैयद अबुल-आला मौदूदीः ख़ुतूते-मौदूदी भाग-2 (बनाम नियाज़ अली ख़ाँ, पृ॰-41, 154, और बनाम सैयद नज़ीर नियाज़ी पृ॰-180, 192) संकलनः रफ़ीउद्दीन हाशमी, सलीम मंसूर ख़ालिद, आबाद शाहपुरी तारीख़े-जमाते-इस्लामी, भाग-1, असद गीलानी : इक़बाल, दारुस्सलाम और मौदूदी

ने फ़रमाया, नहीं तुम जाओ। सैयद हुजवीरी फ़रमाते हैं, 'मैं रात के वक़्त लाहौर पहुँचा तो शहर का दरवाज़ा बन्द हो चुका था, इसलिए रात शहर के बाहर गुज़ारी। सुबह को जब दरवाज़ा खुला तो सबसे पहले हुसैन ज़ंजानी का जनाज़ा शहर से बाहर लाया गया।' सैयद अली हुजवीरी के कामों का मर्कज़ लाहौर ही बना और फिर यहीं दफ़नाए गए।

इसलिए हम देखते हैं कि कई सदियों के बाद 'सैयद अली हुजवीरी (रह०) की नगरी' लाहौर में एक और रातों का इबादतगुज़ार, फाँसी के तख़्ते का फातेह, रात के चिरागों का नूर हिजरत करके आता है और दिए-से-दिए रौशन करते हुए इस्लाम को एक मुकम्मल निज़ाम की सूरत में लागू करने की चौतरफ़ा तहरीक चलाता है। जिस तरह मग़रिबी तहरीक यहाँ सैलाब की तरह चढ़ आई और ज़िन्दगी के तमाम हिस्सों पर हावी हो गई थी, उसके इस तूफ़ान का तोड़ इसके बग़ैर मुमकिन नहीं था कि तालीम, सियासी और मआशी मैदानों में सकारात्मक अन्दाज़ से एक सही इंक़िलाब की बुनियाद रखी जाए। खुद अब्बा जान ही के अलफ़ाज़ हैं—

> "मुसलमानों की मग़रिब से सियासी और फ़ौजी शिकस्त से बढ़कर ख़तरनाक बात उनका मग़रिबी तहज़ीब और फ़लसफ़े के सामने घुटने टेक देना है, इसलिए कि सियासी हार ने तो सिर्फ़ जिस्मों को फ़तह किया था, जबकि उसकी तहज़ीब और फ़िक्री हमले ने तो दिल व दिमाग़ और फ़िक्र का धारा ही बदलकर रख दिया। अंग्रेज़ी इल्म व अदब, (फ़लसफ़े, तहज़ीब व तमद्दुन) ने हम मुसलमानों के अन्दर ऐसे लोग पैदा कर लिए हैं, जिनके ज़ेहन पूरी तरह उसके क़ब्ज़े में हैं। ये लोग अपनी ज़िन्दगियों को इस तरीक़े से हटकर गुज़ारने के बारे में सोच भी नहीं सकते, जिसका नक़्शा मग़रिब ने उनके सामने पेश किया है।"

अब्बा जान ने जामिया उसमानिया, हैदराबाद, दकन में मुलाज़मत र्क पेशकश अपने उसूल की ख़ातिर रद्द कर दी थी, हालाँकि उस दौर में ह सख़्त मआशी (आर्थिक) परेशानियों से दोचार थे।

'अल-जिहाद फ़िल-इस्लाम' को लिखने से पहले अब्बा जान गीता, रामायण और महाभारत वग़ैरा अच्छी तरह पढ़ चुके थे। बाइबल और तलमूद भी पढ़ डाली थी। मौलाना अशफ़ाक़ुर्रहमान काँधलवी (रह०) के यहाँ जामे तिरमिज़ी और मुवत्ता इमाम मालिक (रह०) के पढ़ने का सिलसिला भी जारी था। इसलिए हम देखते हैं कि उन्हें ऐसे लेखकों में गिना जाता है जिन्होंने बहुत ज़्यादा किताबें लिखीं। अब्बा जान ने क़ुरआन, हदीस, फ़िक़्ह, इस्लामी तारीख़, सियासी, मआशियात और सामाजिक इल्म जैसे अलग-अलग विषयों पर क़लम उठाया। बहुत ज़्यादा लिखने के बावजूद लिखने के मेआर को बनाए रखा। इसके साथ ही अरबी अदब, फ़लसफ़े और मंतिक़ का भी गहरा इल्म रखते थे और सबसे बढ़कर यह कि दिल का सुकून और चैन और हर तरह के हालात में अल्लाह का शुक्रगुज़ार होने की ख़ूबी उनके लिए अल्लाह की ख़ास देन थी।

जब कुफ़्र और इलहाद (नास्तिकता) की आँधियों में ईमान और यक़ीन के चिराग़ एक-एक करके बुझते जा रहे थे तो अब्बा जान ने अपनी ज़िन्दगी की मोमबत्ती को दोनों सिरों से जलाकर सोच व विचारों की दुनिया बदलकर रख दी और जदीद तालीम हासिल करनेवाले तबक़ों को मग़रिबी तहज़ीब के असर व दबदबे और ज़ेहनी ग़ुलामी से छुटकारा दिलाया। आज के पढ़े लिखे नौजवानों को अपने दीन पर फ़ख़्र करना सिखाया। उन्होंने 'तफ़हीमुल-क़ुरआन' के ज़रिए से जदीद तालीम हासिल करनेवाले तबक़े को क़ुरआन से जोड़कर उनकी ज़िन्दगियों में इंक़िलाब पैदा कर दिया। अल्लामा इक़बाल के शब्दों में—

'चूँ बजाँ दर रफ़्त जाँ दीगर शोद
जाँ चूँ दीगर शुद जहाँ दीगर शोद'

(यह क़ुरआन जब दिल के अन्दर दाख़िल हो जाता है तो इनसान बदल जाता है, और जब इनसान ही बदल जाता है तो यह सारी दुनिया बदल जाती है।)

जैसा कि हर दौर के कुछ ख़ास फ़ितने व बुराइयाँ होती हैं उसी तरह हमारे दौर का सबसे बड़ा फ़ितना पढ़ी-लिखी जाहिलियत है। मतलब यह है

कि जदीद तालीम हासिल करनेवाले लोग जो सिर्फ़ अपने किसी ख़ास मैदान में डिग्री हासिल कर लेते हैं, दीन के बारे में उनके दिमाग़ में यह सौदा समा जाता है कि वे अपने वक़्त के अफ़लातून या बुक़रात हैं, बल्कि उनसे भी बढ़कर कुछ हैं। लेकिन अब्बा जान की किताबें पढ़कर उनको अन्दाज़ा हो जाता है कि उनकी हैसियत स्कूल के बच्चों जैसी है। जब लोग अपने बिस्तरों पर नींद के मज़े ले रहे होते थे उस वक़्त वह इबादतगुज़ार अपने जिगर के ख़ून से ऐसी किताबें लिख रहा होता था जो इस उम्मत को दुनिया और आख़िरत की ज़िन्दगी में कामयाबी की राह दिखानेवाली थीं।

अब्बा जान की शादी

जब हमारी अम्मा जान (महमूदा बेगम) की उम्र लगभग 12 साल थी, उन्होंने एक ख़ाब देखा कि मैंने मिट्टी में अपना पाँव रखकर ऊपर से मिट्टी दबा-दबाकर एक घरौंदा बनाया और पाँव बाहर खींचकर उस घरौंदे में हाथ डाला तो एक बड़ा चमकदार हीरा मेरे हाथ आया, उस हीरे पर निगाह नहीं ठहरती थी। इतने में चारों तरफ़ से लोग दौड़ते हुए आए। वे कह रहे थे, 'यह हीरा बहुत क़ीमती है, तुम्हें कहाँ से मिला है?' एक ने कहा, 'इस क़ीमती हीरे को सम्भालकर रखना, कहीं कोई इसे तुमसे छीन न ले।' सुबह होते ही अम्मा जान ने यह ख़ाब नाना अब्बा सैयद नसीरुद्दीन शमसी (रह॰) को सुनाया। उन्होंने यह ख़ाब किसी और को सुनाने को मना किया और दिल्ली के एक बड़े आलिम से इसका मतलब पूछने चले गए। उन्होंने कहा, 'इस लड़की की शादी एक बड़े आलिमे-दीन से होगी जिसकी शोहरत सारी दुनिया में फैलेगी।'

नाना अब्बा की मआशी हालात काफ़ी अच्छे थे और समाजी हैसियत में दिल्ली के बड़े और ऊँचे रुतबे के लोगों में गिने जाते थे। इसी वजह से मेरी अम्मा जान के लिए दिल्ली के बड़े मालदार और ऊँचे घरानों के रिश्ते आए, मगर नाना अब्बा की निगाह में कोई समाया नहीं। लेकिन जब दादी अम्मा अब्बा जान का रिश्ता लेकर आईं तो नाना अब्बा को मानो मन की मुराद मिल गई।

अब्बा जान की ज़िन्दगी का ज़्यादातर हिस्सा लगातार सफ़र व रहने की जगह बदलने और मआशी तंगी में गुज़र रहा था। वे बड़ी साफ़ बात कहनेवाले इनसान थे। इसी लिए उन्होंने शादी से पहले नाना अब्बा को बग़ैर किसी लाग-लपेट के बता दिया, 'मेरी ज़िन्दगी का मक़सद यह है, जिस पर मैं कोई समझौता नहीं कर सकता। अगर अल्लाह ने इस क़ाबिल किया तो एक अच्छा घर भी बना लूँगा, क्योंकि सबकुछ होते हुए भी मैं ख़राब हालात में रहना सही नहीं समझता हूँ। लेकिन अगर अल्लाह ने मुझे मआशी तौर पर ख़ुशहाली न दी तो ग़रीबी में भी अपने मिशन को नहीं छोड़ूँगा।' इस बात का जवाब हमारे नाना जान के अब्बा जान ने ख़त के ज़रिए से दिया और भेजने से पहले अम्मा जान और हमारे नाना अब्बा और नानी अम्मा को सुनाया। अम्मा जान के कहने के मुताबिक़ इस ख़त में लिखा था कि 'हमारी बेटी महल में भी तुम्हारा साथ देगी और झोंपड़े में भी तुम्हारे साथ रहेगी।' अम्मा जान कहती थीं, 'दादा अब्बा की यह बात सारी उम्र मेरे कानों में गूँजती और मेरी हिम्मत और इरादे को मज़बूती देती रही।'

15 मार्च 1937 ई॰ को अम्मा जान की शादी दिल्ली में अब्बा जान से हो गई। मेहर की रक़म दो हज़ार थी। अब्बा जान ने साफ़ कह दिया था कि 'मेहर अदा करने के लिए होता है, इसलिए तय की गई मेहर से ज़्यादा अदा करने की हैसियत नहीं रखता।' बरी में एक साड़ी और एक अंगूठी आई। यह वह ज़माना था जब दिल्ली के बड़े-बड़े ख़ानदानी लोग सवा लाख रूपये मेहर तय करते थे, लेकिन अदा करने का कोई रिवाज नहीं होता था।

दारुल-इस्लाम

ज़े आबो गिल ख़ुदा ख़ुश पैकरे-साख़्त
जहाने-अज़ इरम ज़ेबा तरे साख़्त
वले साक़ी बा-आँ आतिश कि दारद
ज़े ख़ाके-मन जहाने-दीगरे-साख़्त

(अल्लाह तआला ने पानी और मिट्टी से ख़ूबसूरत वुजूद (इनसान) बनाया, एक दुनिया जन्नत से भी ज़्यादा ख़ूबसूरत बनाई, मगर साक़ी ने उस आग के ज़रिए से जो उसके पास

है मेरी मिट्टी से एक और ही दुनिया बना ली।)

जम्मू के पहाड़ी इलाक़े के आख़िर में पठानकोट का शहर आबाद है, पठानकोट के पास ही एक गाँव 'सरना' है जिसके पास चौधरी नियाज़ अली ख़ाँ रह॰ (मृत्यु-24 फ़रवरी 1976 ई॰ जौहराबाद) की बहुत बड़ी ज़मीन थी। जहाँ पर उन्होंने अल्लामा इक़बाल (रह॰) के मश्वरे से एक ट्रस्ट क़ायम किया था। अब्बा जान ने इस ट्रस्ट का नाम 'दारुल-इस्लाम' रखा था।

मैंने इसी दारुल-इस्लाम में आँखें खोलीं और बचपन के कुछ साल यहीं गुज़ारे। बहुत ही हरी-भरी और ख़ूबसूरत जगह थी। हमारे घर से कुछ फ़ासले पर माधवपुर का हैडवर्क्स था। सामने पहाड़ों पर पड़ी बर्फ़ नज़र आती थी। जैसे-जैसे सूरज चढ़ता बर्फ़ अपने रंग बदलती जाती थी। फिर जैसे ही सूरज ढलता, बर्फ़ सफ़ेद दूधिया से धीरे-धीरे गहरे नारंगी रंग में बदल जाती और सूरज डूबने के बाद तक आसमान तरह-तरह के रंग बदलता नज़र आता था। मतलब यह कि क़ुदरत की ख़ूबसूरतियाँ भरपूर तरीक़े से वहाँ नज़र आतीं। शहरों जैसी कोई सुहूलतें वहाँ मौजूद नहीं थीं। बिजली के बल्बों और पानी की सप्लाई के नलकों का वहाँ ख़याल भी न था। घर भी बहुत सीधा-सादा सा था, लेकिन इसके बावजूद अब्बा जान से जो बन पड़ा अपने महदूद संसाधनों में आराम व सुकून देने और हर तरह से हमारी अम्मा जान का दिल रखने की कोशिश की। हमारी अम्मा जान जो दिल्ली के एक मालदार घराने में पली-बढ़ी थीं, उन्होंने बड़े सब्र व हौसले से वहाँ अब्बा जान का साथ बड़ी ख़ुशदिली से दिया। अब्बा जान ने वहाँ आने-जाने के लिए घोड़ा-ताँगा ख़रीदा, जिसे एक तुर्किस्तानी कोचवान तुख़ता बेग चलाते थे। दिल्ली से एक माहिर ख़ानसामाँ को लेकर आए। एक आया बच्चों को सम्भालने में अम्मा जान का हाथ बटाती थीं। ये तीनों मुलाज़िम बहुत ही वफ़ादार और हमदर्द थे। ख़ानसामाँ का नाम मक़बूल था। अम्मा जान रोज़ाना सुबह को आया को हिदायत दे देती थीं कि क्या पकाना है। आया ख़ानसामाँ को बुलाकर बताती थीं और सारी ज़रूरी चीज़ें उसके हवाले कर देती थीं। दोपहर और रात को ख़ानसामाँ खाना पकाकर डाइनिंग रूम के बराबरवाले कमरे में रख देता था और आया अम्मा जान को बुलाकर खान

उनके हवाले कर देती थीं। यह बावरची-खाना घर के बाहर था। इसलिए मक़बूल कभी घर के अन्दर नहीं आया था। तुख़ता बेग भी कभी घर के अन्दर नहीं आए थे। इस तरह हमने अपने घर के अन्दर मर्द मुलाज़िमों का आना-जाना कभी नहीं देखा था।

'रोड टू मक्का' (इस्लाम की गोद में) के लेखक अल्लामा मुहम्मद असद साहब (मृत्यु-फ़रवरी 1992 ई०) अपनी बेगम मुनीरा साहिबा और कम उम्र बेटे तलाल के साथ दारुल-इस्लाम आए थे। हमारे वालिदैन ने उनको खाने पर बुलाया। हमारी अम्मा जान ने अपने जहेज़ का डिनर सैट निकाला। यह वह ज़माना था जब कुछ घरानों में सफ़ाई का ख़याल रखते हुए गिलासों को ऊपर से जाली के रूमाल से ढका जाता था। जाली के इन रूमालों का बैलेंस बनाए रखने के लिए मोटे-मोटे नक़ली मोती लटकाए जाते थे। ऐसा इसलिए किया जाता था कि गिलासों में मक्खियाँ न गिरें। मक़बूल ने इतना अच्छा खाना पकाया और अम्मा जान ने इतना अच्छा दस्तरख़ान सजाया कि अल्लामा मुहम्मद असद (रह०) और उनकी बेगम बहुत ही ख़ुश हुए और अपने इस सम्मान पर हमारे वालिदैन का शुक्रिया अदा किया। उन्हीं दिनों इंडियन नेशनल काँग्रेस के नेता जवाहर लाल नेहरू (मृत्यु, मई 1964 ई०) का प्राइवेट सेक्रेटरी बीमार होकर आराम करने अपने गाँव आया। उसका गाँव सरना के क़रीब था। उसने अपने आसपास के लोगों से अब्बा जान का चर्चा सुना तो वह अपने कुछ हिन्दू दोस्तों के साथ दारुल-इस्लाम आया। अब्बा जान से मुलाक़ात के दौरान उसने बड़े चुभते हुए सवाल किए। इस्लाम और मुसलमानों के ऊपर ताबड़तोड़ हमले किए। लेकिन जब अब्बा जान ने उसके सभी सवालों के जवाब बहुत ही सब्र और ठंडे दिल से दिए तो वह लाजवाब होकर रह गया। वह अब्बा जान के सब्र व बरदाश्त और दलीलों से और इस बात से भी बहुत मुतास्सिर हुआ कि अब्बा जान उसके भद्दे इलज़ामों और भड़कीले लहजे और अन्दाज़ के बावजूद बिलकुल ग़ुस्सा नहीं हुए थे। बाद में उसने अपने दोस्तों से कहा कि मैं नहीं समझता था कि मुसलमानों में इतना अनुशासन और इल्म है और वे इतने होशियार और बाख़बर हैं। जब इस दूर-दराज़ के छोटे-से गाँव में ऐसे-ऐसे स्कॉलर बैठे हैं

और इनमें इतना आत्मविश्वास है तो बड़े-बड़े शहरों का क्या हाल होगा? इस तरह दारुल-इस्लाम से जाते हुए वह काँग्रेसी ब्राह्मण बहुत परेशानी में पड़ गया।

इस वाक़िए के कुछ ही अर्से बाद, दारुल-इस्लाम में एक जलसे में मौलाना मंज़ूर नौमानी साहब (मृत्यु-1997 ई॰) और मौलाना जाफ़र शाह फुलवारवी साहब (मृत्यु-1 अप्रैल 1982 ई॰) के साथ कुछ उलेमा का आना हुआ और दारुल-इस्लाम में एक डेढ़ हफ़्ते तक रहना हुआ। अब्बा जान ने उन्हें अपने घर खाने पर बुलाया और सावधानी बरतते हुए अम्मा जान को हिदायत की कि ताँबे की जिन प्लेटों में हम रोज़ाना ख़ुद खाना खाते हैं मेहमानों के लिए भी बस उन्हीं को दस्तरख़ान पर लगाया जाए। उन्होंने अम्मा जान को हिदायत की कि अपना शादी का डिनर सैट न निकालना और न गिलासों को मोतियोंवाले रूमालों से ढकना। अम्मा जान ने ज़िद की कि इतने बड़े-बड़े आलिम मेरे घर आएँ और मैं उनकी इज़्ज़त और सम्मान के लिए अपने अच्छे बर्तन भी न निकालूँ और बस ताँबे के बर्तनों में उन्हें खाना खिला दूँ? यह कैसे हो सकता है!

इसी तरह अब्बा जान ने यह भी हिदायत की थी कि ज़्यादा अच्छा खाना न बनवाना, बस वही दाल-दलिया जो हम रोज़ाना खाते हैं, खाने के लिए पेश करना। अम्मा जान फिर तड़प उठीं, 'अगर हम भी अपने उलेमा-ए-किराम को इज़्ज़त नहीं देंगे तो आम लोगों से इसकी उम्मीद कैसे करेंगे?'

इस तरह मक़बूल ने बहुत ही बेहतरीन खाना बनाया और हमारी अम्मा जान ने अपने बेहतरीन बर्तनों से दस्तरख़ान सजाया। मेहमान आए, खाना खाया और कुछ ही दिन बाद बातें निकलना शुरू हो गईं, जिनका अंजाम जमाते-इस्लामी से उनके इस्तीफ़े की सूरत में सामने आया। उन मेहमानों ने अपने दाएँ-बाएँ मिलनेवालों से फ़रमाया, 'मौलाना मौदूदी दीनदारी के परदे में दुनियादार आदमी हैं। मौलाना के घर में ख़ानसामाँ खाना पकाता है। बच्चे आया पालती है। यह बीवी आख़िर किस मर्ज़ की दवा है? सुना है कि मौलाना की बीवी कभी साड़ी पहनती है और कभी ग़रारा। पान लगाने के लिए मौलाना का पानदान चाँदी का है। पान जिस डिबिया में रखे जाते हैं

ऽ भी चाँदी का है' (हालाँकि ये चाँदी के नहीं ताँबे के थे, जिनपर चाँदी
ा रंग किया गया था) आया मौलाना के बच्चों को बच्चा-गाड़ी में सैर कराने
जाती है। यह सब दीनदारी के नाम पर धोखा नहीं तो और क्या है!'
दादी अम्मा (रुक़य्या बेगम 1873 ई॰– 7 दिसम्बर 1957 ई॰) ने ये बातें
नीं तो छूटते ही कहा, 'अल्लाह भी तो क़द देखकर जामा (एक क़िस्म का
बास) देता है। बस इतना ही ज़र्फ़ था।' इस वाक़िए के बाद अम्मा जान
कभी अब्बा जान की राय के ख़िलाफ़ अपनी बात नहीं मनवाई। उन्हें
ाशा इस बात का पछतावा रहा कि अगर मैं उनकी राय के मुताबिक़
धा-सादा खाना बनवाती और ताँबे की प्लेटें दस्तरख़ान पर रखती तो
ाअत को इतना बड़ा धचका न लगता। शायद इसी हादसे की वजह से
ने अपनी ज़िन्दगी में अपने वालिदैन के बीच कभी भी किसी तरह की
ाबन या लड़ाई-झगड़ा नहीं देखा। हाँ एक वाक़िआ ज़रूर है जब अम्मा
न और दादी अम्मा ने अब्बा जान से सख़्त इख़्तिलाफ़ किया। ये अगस्त
47 ई॰ के वे दिन थे, जब फ़िरक़ावाराना (साम्प्रदायिक) दंगे फैले हुए थे।
बा जान और दारुल-इस्लाम के कार्यकर्ताओं का दबदबा इतना था कि
सपास के हिन्दुओं और सिक्खों की हिम्मत नहीं हुई कि वे दारुल-इस्लाम
सीमाओं में क़दम भी रखें। यही वजह थी कि आसपास के गाँवों से लोग
ने-अपने घर-बार छोड़कर, अपने बीवी-बच्चों और मवेशियों के साथ
रुल-इस्लाम में पनाह लेने के लिए आ गए थे। पूरा इलाक़ा मुसलमानों से
ा पड़ा था। दंगा पीड़ित बड़ी तादाद में आ रहे थे, लेकिन उस समय फ़ौज
निगरानी में सिर्फ़ तीन बसें लोगों को लेने के लिए आईं। उनमें से भी
ः बस चौधरी नियाज़ अली ख़ाँ साहब के घरवालों को लेने के लिए भेज
गई। अब सिर्फ़ दो बसें दारुल-इस्लामवालों और वहाँ पहुँचनेवाले लोगों
लिए रह गईं।

अब्बा जान ने अचानक फ़ैसला किया, 'इस वक़्त सिर्फ़ औरतें और बच्चे
दो बसों में चले जाएँ, मर्द बाद में जाएँगे।' ग़ज़ब यह हुआ कि फ़ौजी
उन बसों के साथ आए थे उन्होंने हुक्म दिया कि 'दस मिनट के
र-अन्दर आप लोग बसों में बैठ जाएँ, हमारे पास वक़्त बहुत कम है।'

उस वक़्त दादी अम्मा और अम्मा जान ने कहा, 'हम मर्दों के बग़ैर अके
कैसे जाएँ, जबकि क़दम-क़दम पर सिक्ख कृपाणें लिए खड़े हैं', लगभग य
सवाल हर घर में उठा हुआ था और क्योंकि हमारा घर नमूना था, इसलि
सबकी नज़रें उस घर पर टिकी हुई थीं।

अब्बा जान ने कहा, 'आसपास के देहात के मुसलमान मेरे पास पन
के लिए आए हैं 'मैं उन्हें कैसे बलवाई सिक्खों और हिन्दुओं के रहमो-क
पर छोड़कर और अपने बीवी-बच्चों को लेकर चला जाऊँ?' अब्बा जान
आगे कहा, 'औरतों और बच्चों की मौजूदगी में बहादुर-से-बहादुर मर्द
बुज़दिली दिखाकर जान बचाने की कोशिश करने लगता है। औरतों अ
बच्चों के जाने के बाद हम इज़्ज़तें बचाने की फ़िक्र से तो आज़ाद हो जाएँ
बाक़ी रहीं हमारी अपनी जानें तो जो अल्लाह को मंज़ूर हुआ वही हो
उसकी फ़िक्र न करें।' इसी कशमकश की हालत में वक़्त बहुत तेज़ी से गु
रहा था। फ़ौजी जवान सीटियों-पर-सीटियाँ बजा रहे थे। आख़िरकार अ
जान ने बड़े मज़बूत लहजे और निर्णायक अन्दाज़ में अम्मा जान से क
'जब तक आख़िरी आदमी यहाँ से पाकिस्तान नहीं चला जाता, मैं यहाँ
हिलूँगा भी नहीं।' यह सुनते ही दादी अम्मा ने अपना क़ुरआन मजीद
में डाला और वुज़ू का लोटा हाथ में लिया और अम्मा जान के साथ ब
के हाथ पकड़कर सुते हुए चेहरों, भिंचे हुए होंटों और आँसुओं से भरी आँ
के साथ बस में सवार हो गईं। जैसे ही दादी अम्मा और अम्मा जान
में बैठीं, बाक़ी घरों की औरतें और बच्चे भी सवार हो गए। जब बसें च
तो कुछ लोग बेकाबू होकर साथ-साथ दौड़ने लगे, लेकिन हमने मुड़
खिड़की से देखा कि अब्बा जान, चट्टान की तरह जमे अपनी जगह
ख़ामोश खड़े हमारी तरफ़ देख रहे थे।

अस्र और मग़रिब के बीच ये बसें सरना से रवाना होकर रात के स
अमृतसर पहुँचीं और पूरी रात वहाँ खड़ी रहीं। क्योंकि अंधेरे में स
ख़तरनाक था। आधी रात को दादी अम्मा पेशाब-पाखाने से फ़ारिग़ होने
लिए, सबके रोकने के बावजूद बस से उतर गईं। जब काफ़ी देर हो गई
दादी अम्मा नहीं आईं और सब लोग मायूस हो गए तो अचानक एक अ

ना हुई। क्या देखते हैं कि दो सिक्ख दादी अम्मा का हाथ पकड़े लिए चले रहे हैं और पूछ रहे हैं कि अम्मा जी! पहचानिए आपकी बस कौन-सी ?' हमने फ़ौरन आवाज़ दी, 'दादी अम्मा! इधर आ जाइए।' और दोनों क्ख सहारा देकर अम्मा जी को बस में चढ़ाकर सलाम करके रवाना हो ए। एक के हाथ में पानी का भरा हुआ लोटा था, वह भी उसने खिड़की अम्मा जी को पकड़ा दिया। बाद में दादी अम्मा ने हमसे कहा, 'तुम लोग ार में समझते हो कि सिक्ख मारते हैं, हालाँकि मारने और ज़िन्दगी वाली हस्ती सिर्फ़ अल्लाह की है।'

अब्बा जान ने सावधानी के तौर पर दारुल-इस्लाम ही से जमाते-इस्लामी एक बुज़ुर्ग मौलाना अब्दुल-जब्बार ग़ाज़ी साहब (मृत्यु-1981 ई॰) को रे क़ाफ़िले के साथ भेजा और उनको हिदायत कर दी थी कि बसें लेकर े ग्वाल मंडी, लाहौर में मलिक नसरुल्लाह ख़ाँ अज़ीज़ साहब (मृत्यु-2 ाई 1976 ई॰) के घर चले जाएँ और बाद में हम लोगों को तांगे में लामिया पार्क, फ़सीह मंज़िल में मौलवी ज़फ़र इक़बाल साहब (मृत्यु-5 मई 35 ई॰) के घर पहुँचा दें। इसी तरह अब्बा जान ने अब्दुल-जब्बार ग़ाज़ी ब को इस बात का भी पाबन्द किया कि सारी औरतों को उनके तेदारों के घर पहुँचा दें।

हम फ़सीह मंज़िल में कुछ दिन तक रहे। इस दौरान अब्बा जान की फ़ से कोई ख़बर नहीं आई कि वे कहाँ और किस हाल में हैं। हर दिन । अम्मा और अम्मा जान के लिए एक-एक सदी बनकर गुज़रता था और रात क़ियामत जैसी होती थी। इस पूरे अर्से में मौलवी ज़फ़र इक़बाल ब के घरवालों ने जिस तरह हमारी ख़ातिरदारी, दिलजोई और इलाज ा किया, उसने मदीना के अनसार की तरफ़ से मक्का के मुहाजिरों की भगत की याद ताज़ा कर दी।

1947 ई॰

अगस्त 1947 ई॰ में हिन्दुस्तान के बँटवारे और पाकिस्तान बन जाने के हम दारुल-इस्लाम (पठानकोट, मशरिक़ी पंजाब) से हिजरत करके र आए तो दारुल-इस्लाम की जायदाद के बदले में हमें और जमाअते-इस्लामी

को चौबुर्जी के क़रीब सोहन लाल कॉलेज की इमारत अलॉट कर दी ग
दारुल-इस्लाम में हमारा घर और जमाअते-इस्लामी का ऑफ़िस इकट्ठे
थे। इस कॉलेज में प्रिंसिपल की कोठी हमें दी गई। ऐसा लगता था कि इ
कोठी में रहनेवाले लोग चाय पीने के दौरान अचानक यह जगह छोड़कर च
गए, क्योंकि प्यालों में चाय सूख चुकी थी। बावरचीखाने में आटा ख़म
होकर सूखा पड़ा था। अलमारियों के दरवाज़े खुले थे और सामान बिख
पड़ा था। घर की एक-एक चीज़ से मायूसी टपक रही थी। घर में क़दम रख
ही दादी अम्मा ने हमें सख़्ती से कहा, 'जिस माल ने अपने मालिक से व
नहीं की, वह हमसे क्या वफ़ा करेगा, ख़बरदार इस घर की किसी चीज़
हाथ न लगाना।'

हम लोग लगभग दो महीने तक इस इमारत में रहे। इसी दौरान अल्ल
मुहम्मद असद (रह॰) अपनी बीवी और बेटे के साथ हमसे मिलने आए। इ
कोठी की तीसरी मंज़िल से हमने क़ाइदे-आज़म मुहम्मद अली जि
(मृत्यु-11 सितम्बर 1948 ई॰) की वह तक़रीर सुनी थी जो उन्होंने पाकिस्त
बनने के बाद पंजाब यूनिवर्सिटी ग्राउंड के एक आम जलसे (30 अक्
1947 ई॰) में की थी।

यही वह ज़माना था जब अब्बा जान, चौधरी मुहम्मद अली साहब (म
1 दिसम्बर 1980 ई॰ जो बाद में पाकिस्तान के प्रधानमंत्री बने) से जा
मिले और उनसे कहा, 'मुस्लिम लीग के बहुत-से ज़िम्मेदार नेताओं की त
से पाकिस्तान को सेक्युलर अन्दाज़ से चलाने की बातें हो रही हैं, यह
मज़लूमों के ज़ख़्मों पर नमक छिड़कना और शहीदों के ख़ून से बेवफ़ाई
तरह है। फिर उन्होंने शहीदों की उन लाशों की तरफ़ ध्यान दिलाया,
लाहौर के रेलवे स्टेशन के चारों तरफ़ बिखरी पड़ी थीं और जानवर उन्हें
रहे थे (इसलिए कि जिनका फ़र्ज़ था कि शहीदों की लाशों को दफ़नाते, उ
से अकसर तो हिन्दुओं की कोठियाँ हथियाने और उनकी दौलत लूट
मसरूफ़ थे)। अब्बा जान ने कहा, 'अभी शिमला से सरकारी मुलाज़िमों
ट्रेन लाहौर पहुँची है, जिसमें एक आदमी भी ज़िन्दा सलामत नहीं बचा
उस ट्रेन के पहियों से ख़ून के लोथड़े लटक रहे थे, अभी तो मुसलमानों

टयाँ सिक्खों के घर से बरामद नहीं की गई, अभी तो शहीदों की लाशें तक
ों दफ़नाई गईं कि पाकिस्तान को सैक्युलर मुल्क बनाने की बातें शुरू हो
हैं। ये सब लोग अपने-अपने घर-बार छोड़कर इसलिए निकल खड़े हुए
कि 'आपने पाकिस्तान का मतलब क्या ला इला-ह इल्लल्लाह का नारा
ाया था।'

चौधरी मुहम्मद अली साहब ने कहा, 'मैं यह बात प्रधानमंत्री लियाक़त
ी ख़ान (मृत्यु-16 अक्टूबर 1951 ई॰) तक पहुँचाऊँगा।' बहरहाल डेढ़-दो
ने बाद हुआ यह कि हुकूमत ने एक दूसरे आदमी को हमारी इमारत का
ज़ा लेने की हियादत जारी कीं। अब्बा जान ने किसी बहस में उलझने की
ाय उसी दिन सोहन लाल कॉलेज (अब मदरसतुल-बनात लीक रोड,
ुर्जी) खाली करने का फ़ैसला कर लिया। वे मग़रिब से ज़रा पहले दो
ती ताँगे लेकर आए और आते ही उन्होंने हमारी अम्मा और दादी अम्मा
कहा, 'सिर्फ़ वे चीज़ें उठा लें जो हम लोग दारुल-इस्लाम से अपने साथ
ए थे और बच्चों को लेकर फ़ौरन बाहर ताँगों में बैठ जाएँ।' अब न दादी
मा ने पूछा और न हमारी अम्मा जान ने सवाल किया कि हिन्दुस्तान से
हिजरत करके यहाँ आ गए, अब यहाँ से किधर जाना है?..........क्यों?
? और किस लिए? इस तरह के सवाल करने का कल्चर हमारे घर में
से था ही नहीं। बस जो फ़ैसला अब्बा जान ने कर लिया, वह सबने
ूँ-चराँ मान लिया। दोनों ख़ातून ख़ामोशी से उठीं और अपनी वही चीज़ें
टने लगीं जो दारुल-इस्लाम से हम साथ लाए थे। चलते वक़्त हम बच्चों
ुछ खिलौने उठा लिए, जो उस घर में पहले से पड़े हुए थे, लेकिन दादी
मा ने वे खिलौने हमारे हाथ से छीनकर नीचे रख दिए और कहा, 'तुमने
ने अब्बा को नहीं देखा कि उन्होंने हिदायत की है, यहाँ से कोई चीज़
ठाएँ।'

हम बाहर निकलकर ताँगे में बैठ गए। अब्बा जान के दूसरे साथी भी
तरह ताँगों में बैठ रहे थे। फिर यह क़ाफ़िला इस्लामिया पार्क पहुँचा,
आजकल डाक्टर रियाज़ क़दीर साहब मरहूम की कोठी है। जमाअते-इस्लामी
ार्यकर्ता ख़ेमे लेकर वहाँ पहुँच चुके थे, कैम्प लग चुका था। इस कैम्प

में हम लगभग ढाई महीने तक रहे। इस वाक़िए के अगले दिन अब्बा ज
ने मदरसतुल-बनातवाली जगह की चाबियाँ सरकारी लोगों के हवाले कर द

अब्बा जान ने कोई परेशानी ज़ाहिर किए बग़ैर जिस शान अं
बेनियाज़ी से यह कोठी खाली कर दी, वह सिर्फ़ उन्हीं के मक़ाम और मत
का इनसान कर सकता था। अब्बा जान ने एक जगह लिखा है, 'ईम
क्योंकि कोई ज़ाहिरी चीज़ नहीं, बल्कि एक दिली हालत का नाम है, इसलि
ईमान की क़ीमत कोई बाहर का ख़रीदार तय नहीं कर सकता, बल्कि ख़ु
ईमानवाला ही इसकी क़ीमत तय कर सकता है। हो सकता है कि ए
आदमी के नज़दीक यह इतनी कमतर चीज़ हो कि वह इसे रोटी के ए
टुकड़े के बदले बिना अफ़सोस के बेच डाले और दूसरे के नज़दीक़ यह इत
क़ीमती चीज़ हो कि अल्लाह के सिवा कोई ग्राहक उसकी निगाहों में ज
ही नहीं, और..........यही वह ताक़त है, जिससे मुसलमान के दिल में
बेपनाह जज़बा पैदा हो जाता है कि वह खुदा और रसूल (सल्ल॰) की क़ा
की हुई तहज़ीब व सक़ाफ़त (सभ्यता व संस्कृति) को क़ायम रखने के लि
हर बड़ी-से-बड़ी क़ुरबानी देने के लिए तैयार हो जाता है। मुसलमान से
दुनिया की हर ताक़त दबती थी तो यह वक़्त था जब उसके ईमान को व
ख़रीदार किसी क़ीमत पर ख़रीद नहीं सकता था। मुसलमान आज हर क़
से दबता और डरता है तो यह इस वक़्त है जबकि इसके दिलो-दिमाग़
ईमान की क़द्र व क़ीमत ख़त्म हो गई है। उस वक़्त से यह बात हमारे ज़ेह
में बैठ चुकी है कि इज़्ज़त का झोंपड़ा ज़िल्लत व रुसवाई के महल से बेह
होता है। बहरहाल वह मुश्किल वक़्त भी गुज़र ही गया।

उन्हीं दिनों अब्बा जान ने अपने साथियों के मशवरे से यह फ़ैसला कि
कि सबसे पहले शहीदों की लाशों को दफ़नाया जाए। इस फ़ैसले पर अ
करने के लिए ट्रक किराए पर लिए गए और जमाअते-इस्लामी के कार्यक
दो टीमों में बँट गए। एक टीम उस इलाक़े में जहाँ आजकल समनाबाद ब
हुआ है, बड़ी-सी इजतिमाई (सामूहिक) क़ब्र खोदती थी और दूसरी टीम
पर लाशें लादकर लाती थी और नमाज़े-जनाज़ा पढ़ने के बाद उनको उस
में दफ़ना दिया जाता था। इसके बाद पहली टीम अगली क़ब्र खोदने में

ती और दूसरी टीम लाशों की अगली खेप लाने के लिए चली जाती थी। बच्चे सारा दिन वहाँ खड़े यह मंज़र देखा करते थे। कितनी ही बार को वहाँ से कह-कहकर भगाया जाता था, 'बच्चे लाशें नहीं देखा करते, के वक़्त सोते में डरोगे, भागो यहाँ से।' लेकिन हम बच्चे तो ़ल-इस्लाम से ही इतनी लाशें देखते आ रहे थे कि हमारा सारा डर और फ़ ख़त्म हो चुका था और अब हम लाशें देखकर बिलकुल नहीं डरते थे। रहे कि ये वे क़ुरबानियाँ हैं, जिनकी वजह से हमको पाकिस्तान जैसी त मिली, आज समनाबाद में रहनेवालों को शायद यह पता भी नहीं है वे पाकिस्तान तहरीक के सैकड़ों शहीदों की क़ब्रों पर रहते और चलते ते हैं।

जब लाशें दफ़ना दी गईं तो फिर जमाअत के कार्यकर्ताओं ने मुहाजिरों कैम्पों का चार्ज सम्भाला। मगर उसी दौरान सरकारी लोगों और कुछ ी ख़ादिमों ने लूटमार शुरू कर दी। उन्होंने मुहाजिरों की मदद के लिए गए लिहाफ़ों, कम्बलों और खाने-पीने की दूसरी चीज़ों को हड़प करना किया। वे लड़कियाँ जो ग़ैरों के चँगुल से बचकर अपने माँ-बाप की दत या उनसे बिछड़ने के बाद बेसहारा हो चुकी थीं, किसी-न-किसी तरह कस्तान पहुँच गईं थीं, यह बताते हुए कितना दुख होता है कि उनपर भी पाकिस्तानी क़ौमपरस्तों ने हाथ साफ़ करना शुरू किया। इसपर न सिर्फ़ बारों में ख़बरें छपीं, बल्कि कई मज़लूम लड़कियाँ अब्बा जान के पास भी फ़रियाद लेकर आईं कि 'अगर पाकिस्तान पहुँचकर भी हमारी इज़्ज़तें ़ज़ नहीं हैं तो फिर हम कहाँ जाएँ?'

इसी दौरान सिक्खों से बरामद की गई लड़कियाँ भी कैम्पों में पहुँचने । मेरे नज़दीक यह उस दौर की सबसे ज़्यादा दर्दनाक बात है। उनमें से तर लड़कियाँ ज़ख़्मों से चूर थीं। मैंने ख़ुद देखा कि एक लड़की की आँख ो सिक्ख ने कृपाण की नोक से मारकर निकाल दी थी। एक लड़की का अब भी नज़रों के सामने आता है, जिसके चेहरे पर बड़ा-सा घाव था। -सी बच्चियों के जिस्म पर दाँतों के काटने के निशान थे। इसके अलावा कमज़ोर जिस्म पर ज़ख़्मों और ज़ुल्म के ऐसे-ऐसे निशान थे कि क़लम

उन्हें बयान करने की ताक़त नहीं रखता। इन बच्चियों ने ये सब ज़ु
पाकिस्तान और इसके मुस्तक़बिल (भविष्य) के लिए सहे थे। ये तो वे ज़
थे जो उनके जिस्मों पर थे, मगर वे ज़ख़्म जो उनके दिलों और रूहों पर ल
थे, वे ज़ाहिरी ज़ख़्मों से कहीं ज़्यादा गहरे और कहीं ज़्यादा दर्दनाक थे

उन्होंने रो-रोकर बताया कि 'हमें दुश्मन ज़बरदस्ती शराबें पिलाते अ
अपने सामने नाचने पर मजबूर करते थे', जो कुछ उनपर गुज़री उसे बय
करने के लिए वे लड़कियाँ बेचैन थीं। हम घर में दादी अम्मा और अम्मा ज
के पास बैठे होते तो वे यह सोचे बिना कि हम जैसी नौ उम्र बच्चियाँ
बैठी हुई हैं, सबकुछ बताने लगती थीं। अपने बदन खोलकर, क
हटा-हटाकर ज़ख़्म दिखाने लगतीं। जब अम्मा जान ग़म, हया व शर्म
वजह से हर एक से अकेले में समझातीं कि 'बेटी! इस तरह की बातें
बताओ और इस तरह कपड़े हटा-हटाकर अपने ज़ख़्म न दिखाओ', तो
रो-रोकर कहतीं कि 'अब बाक़ी रह ही क्या गया है जिसकी हिफ़ाज़त के f
हम शर्म व हया के इन शब्दों का लिहाज़ करें?'

क्योंकि ये बातें दादी अम्मा, अम्मा जान और अब्बा जान को सीधे
पर उन्हीं लड़कियों से पता चलती थीं, इसलिए उनके गहरे असर से ह
घर की हालत सोगवार और बोझल दिखाई देती थी। अम्मा जान की आँ
में आँसू और अब्बा जान के चेहरे पर ग़ुस्से, ग़ैरत और बेबसी के रंग देख
हम सहम जाते थे।

ऐसी ही एक औरत से तो अब भी अकसर मिलना होता है। उनके
इस वक़्त बड़े-बड़े उहदों पर मुलाज़िम हैं और घर में किसी चीज़ की व
नहीं है। लेकिन उनपर आए दिन डिप्रेशन के दौरे पड़ते हैं, ख़ास तौर
अगस्त के महीने में। पिछले 14 अगस्त को फ़ोन करके मुझे अपने
बुलाया और कहने लगीं, 'सारी ज़िन्दगी मॉडल टाउन की कोठी में रहते ग
गई है, लेकिन जब भी ख़ाब देखती हूँ तो वही लुधियानावाला घर न
आता है। घर को आग लगी हुई है, बाप की लाश सहन में पड़ी हुई है, प
बड़ी बहन को सिक्ख घसीटकर ले जा रहे हैं, उसके बाद एक सिक्ख
जिसे हम चाचा जी कहते थे, मुझपर हाथ डाला और मैं दहशत से बे

हो गई। बाद में पता चला कि मेरी बड़ी बहन सामूहिक बलात्कार का शिकार होकर दम तोड़ गई। मैं बेग़ैरत थी कि मुझे मौत भी न आई। अब हर साल 14 अगस्त को इतनी रौशनियाँ होती हैं और इतने तराने गाए जाते हैं कि इस सारे काम ने 'सोहनी धरती' को क़दम-क़दम बरबाद करके रख दिया है। जवान लड़के जिनका फ़र्ज़ अपने वतन की हिफ़ाज़त करना है, कंधों पर लम्बे-लम्बे बाल फैलाए कमर लचका-लचकाकर गाने और नाचने में मसरूफ़ नज़र आते हैं और यह सबकुछ आज़ादी के नाम पर हो रहा है। इस आज़ादी की जो क़ीमत हमने चुकाई है वह हमसे पूछो। 'वतन की मिट्टी गवाह रहना' गानेवालियाँ क्या जानें कि सामूहिक बलात्कार का शिकार होनेवालियों पर क्या गुज़री। तुम यक़ीन करो कि पाकिस्तानियों को आज़ादी रास नहीं आई है। जिनसे अब ये दोस्ती की पींगें बढ़ा रहे हैं हम भी कभी उन्हें भापा जी, मामा जी, और चाचा जी कहते थे।'

फिर वे ख़ातून कहने लगीं, 'यक़ीन जानो 14 अगस्त के जश्न की रौशनियाँ हमारे अन्दर के अंधेरों को और भी बढ़ा देती हैं। मेरी बहन! जिसका पल्लू भी कभी किसी ग़ैर-महरम (ग़ैर-मर्द) ने नहीं देखा था, वह सामूहिक बलात्कार का निशाना बनी और अब ऐसा लगता है कि शायद हमने ये क़ुरबानियाँ दी ही कंजरों और गवय्यों के लिए थीं, ताकि वे यहाँ मटक-मटककर नाचें और गाएँ। मुझे बताओ क्या पाकिस्तान इसी लिए बनाया गया था?'

उन ख़ातून की बात का मेरे पास कोई जवाब न था। वे तो अपना ग़ुस्सा निकाल रही थीं। घरवाले लुधियाना का नाम सुनते ही नाराज़ हो जाते थे और जो कुछ उनकी अम्मा और ख़ाला पर गुज़री उसका ज़िक्र तक सुनने को तैयार न थे। ज़ुल्म यह है कि जब कभी मैं उनसे मिलने उनके घर जाती हूँ तो उनके पोते-पोतियाँ मुझे देखते ही 'लुधियाना ज़िन्दाबाद!' का नारा लगाते हैं।

उन बेघर और तबाह हाल लड़कियों के घरवालों और रिश्तेदारों का पता लगाना एक बड़ा मुश्किल काम था। ज़रा सोचिए ख़ुद वे पल कितने दर्दनाक होते होंगे, जब घरवाले मिल जाने के बावजूद अपनी बहन, बेटी को

पहचानने या साथ ले जाने से इनकार कर देते थे। तब उन लड़कियों की ज़बान से अपने भाई, बाप और ख़ानदानवालों के लिए बद-दुआओं और गालियों की जो बौछाड़ और दिल देहाल देनेवाली चीख़-पुकार निकलती थी, जिसे सुनकर दहशत से कलेजा काँप उठता था। अब्बा जान और उनके साथियों ने ऐसी बहुत-सी लड़कियों के निकाह का इन्तिज़ाम किया था।

इन इमदादी कामों के साथ-साथ, अब्बा जान ने क़रारदादे-मक़ासिद (एक विधेयक) पास कराने के लिए सरकार पर दबाव डालना शुरू किया। पूरे मुल्क का तूफ़ानी दौरा किया, रेडियो पाकिस्तान से तकरीरें कीं और पंजाब यूनिवर्सिटी लॉ कालेज में इस्लामी क़ानून पर लेक्चर दिए। हुकूमत की बेहिसी, कैम्पों में सेवा करनेवाले लोगों का बेदर्दी भरे रवैए और वे जायदादें जिनको हिन्दू और सिक्ख छोड़कर आए थे उनको हड़प करने की मुनज़्ज़म (संगठित) कोशिशों के ख़िलाफ़ भी आवाज़ उठाई। इन सारी कोशिशों और मेहनत ने सरकार की नज़र में अब्बा जान और जमाअते-इस्लामी को अपना सबसे बड़ा दुश्मन बना दिया। प्रधानमंत्री नवाबज़ादा लियाक़त अली ख़ान (मरहूम) अपनी सरकार के लिए और सैक्यूलर लोग अपने नज़रियों के लिए, इन चौतरफ़ा कोशिशों से बहुत दुखी हुए। इस तरह सरकार ने जवाबी तौर पर प्रोपैगंडा शुरू किया। बे बुनियाद इलज़ाम लगाकर, जमाअत के काम के रास्ते बन्द करने शुरू किए। नवाब साहब ने अख़बारवालों से कहा, 'मौलाना मौदूदी पाकिस्तान के अमीरुल-मोमिनीन बनना चाहते हैं।' हालाँकि वे तो मुहाजिरों पर ज़्यादती बन्द करने, अमन की बहाली, लूट-खसौट बन्द करने और ख़ुद पाकिस्तानियों से किए जानेवाले वादे याद दिला रहे थे।

अब्बा जान ने उस ज़माने में साफ़ तौर पर कहा, 'अगर इस्लामी रियासत के हवाले से, पाकिस्तान के सियासी लोग और क़ानून बनानेवाली असेम्बली ने 'पाकिस्तान का मतलब क्या? ला इला-ह इल्लल्लाह' को सही तौर पर रियासत के अक़ीदे (आस्था) और मक़सद के तौर पर तसलीम करने का ऐलान नहीं किया तो यह पाकिस्तान के मुसलमानों के साथ तारीख़ का सबसे बड़ा धोखा होगा। इस मक़सद के लिए उन्होंने क़रारदादे-मक़ासिद का तसव्वुर दिया, जिसमें अल्लाह की हाकिमियत (Sovereignty) तसलीम करने

और लोगों को सामूहिक एवं सामाजिक इनसाफ़ दिलवाने का तरीक़ा पेश किया गया था। इस तसव्वुर को एक क़रारदाद की शक्ल में तसलीम कराने के लिए मौलाना शब्बीर अहमद उसमानी रह॰ (मृत्यु-13 दिसम्बर 1949 ई॰) ने भरपूर आवाज़ उठाई। मौलाना ज़फ़र अहमद अनसारी रह॰ (मृत्यु-20 दिसम्बर 1991 ई॰) जो कि मौलाना उसमानी के मददगार थे, ने भी ज़ोरदार आवाज़ उठाई। खुद मुस्लिम लीग के असेम्बली के बहुत-से लोगों ने इस क़रारदाद की हिमायत करके एक बड़ा कारनामा अंजाम दिया। क़रारदादे-मक़ासिद को तसलीम कराने के लिए भरपूर कोशिश करना, अब्बा जान का एक बड़ा कारनामा है। जब पाकिस्तान में साम्यवाद (Communism) की आँधी चलने के आसार पैदा हुए तो उन्होंने ऐलान किया, 'यह मुहम्मद (सल्ल॰) की उम्मत का मुल्क है, यह कार्लमार्क्स (मृत्यु-1833 ई॰) और माओ ज़े तुंग (मृत्यु-1976 ई॰) की क़ौम का मुल्क नहीं है। अगर अल्लाह के दीन के लिए हमें लड़ना पड़ा तो हम अल्लाह के फ़ज़्ल से दस मोर्चों पर भी लड़ने से न चुकेंगे। हम एक ही वक़्त में आमरियत (तानाशाही) का भी मुक़ाबला करेंगे और बेदीनी से भी लड़ेंगे। जब तक हम ज़िन्दा हैं और जब तक हमारे सर हमारी गर्दनों पर रखे हैं, उस वक़्त तक किसी की हिम्मत नहीं है कि वह यहाँ इस्लाम के सिवा कोई दूसरा निज़ाम ला सके।

सायादार पेड़

कुछ लोग अपने-आप में एक अंजुमन होते हैं और कुछ ऐसे फलदार पेड़ की तरह, जिनके साए में अपने-पराए, अमीर-ग़रीब, बच्चे-बूढ़े सब पनाह लेते हैं और उनका फल खाते हैं। उनकी छाँव सबके लिए होती है और वे अपनी छाँव और अपने फल से किसी को भी महरूम नहीं करते। हमारी अम्मा जान (बेगम मौदूदी) बिलकुल ऐसी ही थीं। वे अपने-आपमें एक अंजुमन थीं। उन्होंने बाप और माँ बनकर हम नौ बहन-भाइयों को अपने साए में परवान चढ़ाया।

हमारे अब्बा जान (सैयद अबुल-आला मौदूदी रह॰) की वजह से हमारा घर हर वक़्त लोगों से भरा रहता था, बाहर मर्द और अन्दर औरतें। हमने बचपन ही से अपने घर में 'जुमा' होता देखा था। 11 बजे से घर के सबसे

बड़े कमरे में दरी, चाँदनी का फ़र्श बिछ जाता था और हमारी अम्मा जान सलातुत्तसबीह पढ़ने लगती थीं। चूँकि यह व्यक्तिगत इबादत है, इसलिए हमारे घर में सलातुत्तसबीह कभी जमाअत के साथ नहीं पढ़ी गई। इसी दौरान दूर और आसपास से औरतें आना शुरू हो जातीं। जब जुमे की नमाज़ का वक़्त शुरू हो जाता तो कमरा औरतों से लगभग भर चुका होता। हमारी अम्मा जान जमाअत के साथ नमाज़ पढ़ातीं। नमाज़ के बाद बहुत लम्बी इजतिमाई (सामूहिक) दुआ होती थी, इसके बाद हदीस व क़ुरआन का दर्स होता था और फिर दोबारा दुआ होती, जिसके बाद यह इजतिमा ख़त्म हो जाता था। इसी तरह हमारे घर में ईद की नमाज़ भी पढ़ाई जाती थीं। हमारी अम्मा जान फ़ज्र की नमाज़ के बाद तलबिया पढ़तीं और ईद की नमाज़ के लिए तैयारी करवाती थीं। अभी हम दरी-चाँदनी का फ़र्श बिछाकर फ़ारिग़ भी नहीं होते थे कि ईद की नमाज़ के लिए औरतें आना शुरू हो जाती थीं, जो सफ़ें बनाकर बैठ जाती थीं। फिर सब मिलकर तलबिया पढ़ते थे। सूरज निकलते ही औरतों को तकबीरों के बारे में हिदायतें दी जाती थीं और फिर अम्मा जान सबको नमाज़ पढ़ाती थीं। नमाज़ के बाद ख़ुतबा होता था। दुआ के बाद सबको सेवाइयाँ खिलाई जाती थीं और ईद की मुबारकबाद देती थीं।

अब्बा जान की पहली गिरफ़्तारी

जैसे ही ज़ेहन पुरानी बातों को याद करता है तो आँखों के सामने एक मंज़र घूम जाता है।

रात का वक़्त है और अम्मा जान, हम छोटे-छोटे बच्चों को अपने साथ लगाए खड़ी हैं। दो लेडी कॉंस्टेबल आगे बढ़ती हैं। वे अम्मा जान और पूरे घर की तलाशी ले रही हैं। अब्बा जान के कपड़े एक सूटकेस में रखे हैं और वे तैयार होकर कहीं जाने के लिए खड़े हैं। फिर एक दम अब्बा जान हमारी तरफ़ देखे बग़ैर काफ़ी तेज़ आवाज़ में 'अस्सलामु अलैकुम ख़ुदा हाफ़िज़, फ़ी अमानिल्लाह' कहते हैं और पुलिसवालों के साथ रवाना हो जाते हैं। यह पहली गिरफ़्तारी थी, जो 4 अक्टूबर 1948 ई० को हुई। उस वक़्त मेरी उम्र आठ साल थी। बाद में मैंने अम्मा जान से पूछा, 'अब्बा जान ने जाते वक़्त

हमारी तरफ़ मुड़कर देखा क्यों नहीं था?' अम्मा जान ने बड़े सुकून से कहा, 'हज़रत इबराहीम (अलैहि॰) ने भी तो मक्का से जाते वक़्त हज़रत हाजिरा (अलैहि॰) और हज़रत इसमाईल (अलैहि॰) की तरफ़ पलटकर नहीं देखा था। पीछे मुड़कर देखने से इरादे और हौसले में कमज़ोरी आती है।' अम्मा जान हमें नबियों के क़िस्से सुनाती रहती थीं, इसलिए बात समझने के लिए इतना इशारा ही काफ़ी था।

जब अब्बा जान गिरफ़्तार हुए तो उस वक़्त घर में बहुत थोड़े-से पैसे थे। इसलिए हमारी अम्मा जान ने ज़िन्दगी के सारे कामों के तरीक़े बदल दिए। धोबी को कपड़े देना बन्द करके उन्होंने ख़ुद कपड़े धोना शुरू कर दिए, हालाँकि उनका ताल्लुक़ दिल्ली के ऐसे मालदार घराने से था जहाँ एक रूमाल भी ख़ुद नहीं धोया जाता था। मुलाज़िम को रुख़सत करके खाना ख़ुद पकाना शुरू किया। उन दिनों एक औरत जो अच्छरा से जुमा पढ़ने हमारे यहाँ आया करती थी और एक ताँगेवाले की विधवा बहन थी, वह ज़िद करके यहाँ आ गई और सारे काम सम्भाल लिए, कपड़े धोने शुरू कर दिए और आटा गूँधकर तंदूर से रोटियाँ लगवाकर ले आती। उसने अम्मा जान ने कहा, 'आप अल्लाह के काम करें, आपके घर के काम मैं करूँगी।' उसका नाम भाग्य-भरी (क़िस्मतवाली) था। यह नाम क्योंकि हमारी समझ में नहीं आता था, इसलिए हम सब उसे 'रस-भरी' कहते थे, जिसका उसने कभी बुरा नहीं माना था।

हमारी अम्मा जान हर वक़्त 'या हय्यु या क़य्यूम बि-रह्मति-क अस्तग़ीसु' (ऐ ज़िन्दा और हमेशा रहनेवाले! तेरी रह्मत के ज़रिए से (तेरी) मदद चाहती हूँ।) को बार-बार पढ़ा करती रहती थीं। एक बार दमे का बहुत तेज़ दौड़ा पड़ा तो तकलीफ़ के ज़ोर में बस इतना कहा कि 'मेरे मियाँ जेल में हैं, मुझे कुछ हो गया तो मेरे बच्चे रोएँगे और उन्हें कोई चुप करानेवाला भी नहीं होगा।' हमारी दादी अम्मा यह सुनकर बहुत नाराज़ हुईं, 'क्यों मायूसी की बातें करती हो, हौसला करो, क्या हुआ जो ज़रा-सा साँस ऊपर-नीचे हो गया!'

हमारी दादी अम्मा बड़े हौसलेवाली ख़ातून थीं। वे हमारी अम्मा जान को

नसीहत किया करती थीं, 'बच्चों को ऐसी आदत डालो कि अच्छे-बुरे सभी तरह के हालात का सामना कर सकें। एक वक़्त सोने का निवाला खिलाओ, मोती-मोती कूट-कूटकर खिलाओ, लेकिन दूसरे वक़्त दाल से रोटी खिलाओ, चटनी से रोटी खिलाओ। बच्चों को कभी एक तरह की आदत न डालो और न हर वक़्त उनकी मुँह-माँगी मुराद पूरी करो। माँ-बाप तो आसानी से औलाद की आदत ख़राब कर देते हैं, लेकिन दुनिया कोई लिहाज़ नहीं करती, यह तो बड़े-बड़ों को सीधा कर देती है', और फिर कहती थीं, 'मैंने अपने बच्चों को इसी तरह पाला है, एक वक़्त अच्छे-से-अच्छा खिलाना तो दूसरे वक़्त दाल-चटनी से रोटी खिलाई।'

शायद यही वजह थी कि हमारे अब्बा जान हर तरह के अच्छे-बुरे हालात से बड़ी साबित क़दमी के साथ गुज़र गए और हर सख़्ती अपनी जान पर झेल गए। उनका जिस्म फ़ौलाद जैसा था। वे अपना टूटा हुआ बटन ख़ुद टाँक लेते थे। अपना फटा हुआ कुर्ता ख़ुद ही सी लेते थे। उनकी जेल-किट (Jail Kit) जो पहली गिरफ़्तारी के बाद हर वक़्त तैयार रहती थी, उसमें सूई-धागा और हर साइज़ के बटन भी हुआ करते थे।

हमारी दादी अम्मा अल्लाह की वली थीं। वे जब बीमार होती थीं तो आसमान की तरफ़ नज़रें उठाकर बड़े जज़बे के साथ दुआ करते हुए कहतीं, 'मन मरीज़म तू तबीबम।' (मैं मरीज़ हूँ, तू डॉक्टर है।) और फिर वे ठीक हो जाती थीं। ज़िन्दगी-भर डॉक्टर को नहीं दिखाया और न कभी दवा पी। अगर कभी फोड़ा-फुंसी निकल आता तो उस जगह हाथ रखकर कहती थीं, 'ऐ दुबल! बुज़ुर्ग मशू, ख़ुदाए मा बुज़ुर्ग तर अस्त।' (ऐ फोड़े ज़्यादा न बढ़, हमारा ख़ुदा सबसे बड़ा है।) यह कहने से वह फोड़ा ठीक हो जाता था। वे फ़ारिसी ज़बान व अदब की स्कॉलर थीं और अकसर बात का जवाब फ़ारिसी शेअरों में दिया करती थीं।

दादी अम्मा जिस महफ़िल में भी बैठती थीं चाहे वह कितनी ही बड़ी महफ़िल होती, उनके होते हुए कोई दूसरी ख़ातून बोल नहीं सकती थीं। बस सब उनकी बातें सुनते थे और उन्हीं को देखते थे। वे हर महफ़िल की जान होती थीं। बातें इस क़दर अदबी और दिलचस्प करती थीं कि कोई अगर एक

बार उनसे मिल लेता था तो उनको और उनकी बातों को कभी भूल नहीं सकता था। वे बहुत ही हाज़िर जवाब थीं। फ़ौरन ऐसी बात कहती थीं कि वह बात सुननेवालों के दिल में उतर जाती थी। अपने बात करने के अन्दाज़ से सबको हँसाती थीं, मगर ख़ुद संजीदा रहती थीं। इसपर हम लोगों को और ज़्यादा हँसी आती थी कि ख़ुद कैसे सूखा सा मुँह बनाए रखती हैं और हमें हँसा-हँसाकर बुरा हाल कर देती हैं।

हमारे मामू, जलाल, किंग एडवर्ड मेडिकल कॉलेज लाहौर में पढ़ते थे। उन्होंने एक दिन दादी अम्मा से शर्त लगा दी कि हम दोनों नस्र (गद्य) में नहीं बल्कि शेअर (काव्य) में बात करेंगे। अब दादी अम्मा को तो किसी से मदद लेने की ज़रूरत न पड़ी, लेकिन मामू बार-बार हमारी अम्मा जान के पास शेअर पढ़ने के लिए आने लगे या यह कहते, 'एक मिस्रा (शेअर की एक पंक्ति) याद है, ख़तरा है कि आधे शेअर पर दादी अम्मा बिलकुल नहीं मानेंगी और न ग़लत शेअर पढ़ने पर ही छोड़ेंगी।' मुश्किल यह हो गई कि अगर अम्मा जान हमारे मामू की मदद करतीं तो यह मुआहदे के ख़िलाफ़ होता। इसलिए अम्मा जान ने दादी अम्मा से इजाज़त माँगी, 'क्या मैं जलाल मियाँ की कुछ मदद कर दूँ?' दादी अम्मा ने ख़ुशी से इजाज़त दे दी, 'बच्चा है अगर रहनुमाई चाहता है तो कोई बात नहीं।' लेकिन इसके बावजूद एक हफ़्ते के अन्दर-अन्दर जलाल मामू शर्त हार गए और अपने कानों को हाथ लगाकर कहने लगे, दादी अम्मा से अब कभी भी ऐसी शर्त नहीं लगाऊँगा।

हमारी अम्मा जान कहती थीं, 'मैंने अपनी पूरी ज़िन्दगी में तुम्हारी दादी अम्मा जैसी कोई दूसरी औरत नहीं देखी कि जो अपने मन की इच्छाओं से इतनी बेपरवाह हो।' उन्हें किसी चीज़ की चाहत ही नहीं थी। दादी अम्मा कहा करती थीं, 'सूफ़ियों की ख़ूबी यह है कि वे किसी को मना नहीं करते, लालच नहीं करते और अपने पास माल जमा नहीं करते।' इत्तिफ़ाक़ से ये तीनों ख़ूबियाँ हमारी दादी अम्मा, अब्बा जान और अम्मा जान में मौजूद थीं। जो कुछ अपने पास है उसपर राज़ी रहने और सब्र जैसी बेहतरीन ख़ूबियों को इन तीनों हस्तियों ने अपने अन्दर इस तरह परवान चढ़ाया था कि वे नफ़्से-मुत्मइन्ना (संतुष्ट आत्मा) का बेहतरीन नमूना बन गए थे। अम्मा जान

यह ज़िक्र किया करती थीं कि मैंने जीने का सलीक़ा तुम्हारी दादी अम्मा से सीखा है। हैरत की बात यह थी कि सास-बहू दोनों हमेशा एक राय रखती थीं और कभी आपस में कोई मतभेद नहीं होता था।

जब अब्बा जान पहली बार जेल गए और हाथ बिलकुल तंग हो गया तो अम्मा जान ने फ़ैसला किया कि चाहे कुछ भी हो जाए बच्चों की तालीम जारी रहनी चाहिए। हमारी अम्मा जान की एक बहुत ही क़रीबी दोस्त ख़ुर्शीद ख़ाला, जब उनसे मिलने आईं तो अम्मा जान ने अपना कुछ ज़ेवर उन्हें दिया कि उसे बेच आएँ। इस तरह वे घर और बच्चों की तालीम का ख़र्च किफ़ायत शआरी के साथ और बहुत संभल-संभलकर पूरा करती थीं।

ईद या रिश्तेदारों के घर शादी-ब्याह पर नए कपड़े बनवाने का रिवाज हमारे घर में बिलकुल नहीं था। हमारी अम्मा जान ने हमें समझा दिया था, 'रमज़ान में चूँकि ज़कात अदा करनी होती है इसलिए ईद पर नए कपड़े नहीं बनाए जा सकते और ईदुल-अज़हा पर क़ुरबानी देनी होती है, इसलिए नए कपड़ों का सवाल ही पैदा नहीं होता, इसलिए धोबी के धुले हुए कपड़े पहनो और ईद की नमाज़ पढ़ने चले जाओ। इसी तरह हर शादी में नए कपड़ों की कोई ज़रूरत नहीं है।' आजकल जब इस तरह की ख़बरें अख़बार में नज़र से गुज़रती हैं कि एक माँ ने ख़ुद को आग लगाकर आत्महत्या कर ली, क्योंकि उसके बच्चों के लिए ईद के नए कपड़ों का इन्तिज़ाम नहीं हो सका था, या बाप ने ख़ुद को फाँसी के फंदे पर लटका लिया कि वह ईद पर बच्चों की फ़रमाइशें पूरी नहीं कर सकता था, तो बहुत हैरत होती है।

एक बार घर में आटा ख़त्म हो गया। शाम का वक़्त था और आटा पीसने की चक्की भी बंद हो चुकी थी। हमारी मुलाज़िमा करीम बीबी, पड़ोस के घर से आटा उधार माँगकर ले आईं। यह देखकर अम्मा जान बहुत नाराज़ हुईं। 'तूने यह क्या किया?' करीम बीबी कहने लगीं, 'बीबी जी!' वे भी कई बार हमसे आटा माँग लेते हैं और जब उनका आटा पिसकर आ जाता है तो वे वापस दे जाते हैं। कल जब हमारा आटा पिसकर आ जाएगा तो मैं भी उन्हें वापस दे आऊँगी।' लेकिन अम्मा जान ने कहा, 'उनकी बात और है, वे जितना चाहें दूसरो से उधार आटा लें, मगर हम ऐसा नहीं कर सकते।

लोग कहेंगे कि मौलाना साहब जेल में हैं और उनके घरवाले पड़ोसियों से माँग-माँगकर खा रहे हैं। अगर घर पर आटा नहीं था तो हम किसी भी तरह गुज़ारा कर लेते, खिचड़ी पका लेते, रूखी-सूखी खा लेते, मगर तुम्हें इस तरह उधार माँगने नहीं जाना चाहिए था।' उनको इतना सख़्त-सुस्त कहा कि फिर कभी उनसे ऐसी ग़लती न हुई। अम्मा जान कहा करती थीं, 'दुनिया में हर चीज़ के बग़ैर गुज़ारा हो सकता है, बल्कि गुज़ारा होता नहीं किया जाता है।' बहरहाल अल्लाह की मेहरबानी से वह मुश्किल समय भी गुज़र ही गया और 28 मई 1950 ई॰ को 19 महीने और 25 दिन की नज़रबंदी के बाद अब्बा जान फूलों के हारों से लदे-फदे हुए घर आ गए और सारा घर मुबारकबाद देनेवालों से भर गया।

अब्बा जान की दूसरी गिरफ़्तारी और सज़ा-ए-मौत

28 मार्च 1953 ई॰ को अब्बा जान दोबारा मार्शल लॉ के तहत गिरफ़्तार कर लिए गए। फिर वही गिने-चुने पैसे थे और छोटे-छोटे आठ बच्चों के साथ दमे की मरीज़, बहुत ही कमज़ोर सेहतवाली हमारी अम्मा जान थीं। जिन्होंने बड़े हौसले से उन हालात का मुक़ाबला किया। कभी चूड़ी और कभी अंगूठी बेचने का सिलसिला जारी रहा। (यह काम ख़ुर्शीद ख़ाला किया करती थीं) पहले की तरह फिर खुद खाना पकाना और सारे काम करने शुरू कर दिए। इस बार मार्शल लॉ के तहत फ़ौजी अदालत में अब्बा जान पर मुक़दमा चल रहा था। यह मुक़दमा एक पम्फलेट 'क़ादयानी मसला' लिखने के सिलसिले में चल रहा था। 9 मई 1953 ई॰ को मुक़दमे की कार्यवाही पूरी हो गई।

यह 11 मई 1953 ई॰ की सुबह थी, जब अम्मा जान नाश्ता बना रही थीं और हम सब बच्चे स्कूल जाने के लिए तैयार होकर नाश्ते के इन्तिज़ार में बैठे थे, उसी दौरान में एकदम हमारे सबसे बड़े भाई उमर फ़ारूक़ साहब (जन्म-2 अप्रैल 1938 ई॰, दिल्ली) हाथ में अख़बार लिए बड़े घबराए हुए अन्दर आए और अम्मा जान को एक तरफ़ ले जाकर अख़बार दिखाया। इस अख़बार में न जाने क्या था कि उसे देखते ही अम्मा जान का चेहरा पीला पड़ गया। लेकिन फिर उन्होंने जल्दी से अख़बार छिपा दिया और एक लफ़्ज़ कहे बग़ैर, हमारे लिए उसी बेफ़िक्री और उसी रफ़्तार से पराठे बनाने शुरू

कर दिए, जैसे वे पहले बना रही थीं। फिर हम सबको नाश्ता करवाकर स्कूल भेज दिया और अन्दर जाकर आका भाई (सैयद उमर फ़ारूक़) को भी स्कूल जाने की हिदायत की। अन्दर से उमर भाई की आवाज़ आई, 'नहीं अम्मा, मुझसे स्कूल नहीं जाया जाएगा।' दूसरे बड़े भाई अहमद फ़ारूक़ (जन्म-11 मई 1939 ई॰, दिल्ली) घर से कुछ दूर ही गए थे कि एक अख़बार बेचनेवाला ज़ोर-ज़ोर से ऐलान कर रहा था, 'मौलाना मौदूदी को फाँसी की सज़ा सुना दी गई।' वह तो अपना अख़बार बेचने के लिए आवाज़ लगा रहा था, लेकिन उसे मालूम नहीं था कि उसके सामने से जो एक बच्चा यूनिफ़ार्म पहने साईकिल पर सवार अपने स्कूल जा रहा है, यह उसी के बाप को फाँसी देने का ऐलान है। इसलिए अहमद फ़ारूक़ भाई भी आधे रास्ते ही से वापस आ गए।

मैं और असमा (जन्म-23 दिसम्बर 1941 ई॰, दिल्ली) जब स्कूल जाने के लिए घर से निकले तो अख़बारवालों की आवाज़ें कान में पड़ीं, 'मौलाना मौदूदी को फाँसी की सज़ा सुना दी गई।' उस वक़्त हमें मालूम हुआ कि उमर भाई अख़बार हाथ में लिए क्यों घबराए हुए अम्मा जान के पास आए थे और उस अख़बार में क्या था, जिसे देखते ही अम्मा जान का चेहरा पीला पड़ गया था। लेकिन इसके बावजूद हम दोनों बहनें घर वापस नहीं आईं, बल्कि सीधी स्कूल चली गईं।

हम 60 फ़ीरोज़पुर रोड़वाले सरकारी स्कूल में पढ़ते और घर से पैदल जाते थे। स्कूल में हमें जो भी देखता, हैरान रह जाता था। हमारी प्रिंसिपल एक ईसाई औरत थीं। उन्होंने जब स्कूल असेम्बली में हमें देखा तो तक़रीर करते हुए छात्राओं से कहा, 'देखो, लीडर ऐसे होते हैं कि बाप को फाँसी की सज़ा सुनाई गई है और बेटियाँ साफ़-सुथरे यूनिफ़ार्म पहने असेम्बली में बिलकुल सुकून के साथ खड़ी हैं। शाबाश उस माँ को है, जिसने ऐसे दिन और ऐसे मौक़े पर भी अपनी बच्चियों को साफ़ कपड़े पहनाकर, बाल बनाकर, खिला-पिलाकर स्कूल रवाना कर दिया, यह लड़कियों का कमाल नहीं है, यह तो इनकी माँ की अज़मत (महानता) है कि उन्होंने आज भी अपनी बच्चियों की तालीम को ज़्यादा ज़रूरी समझा। कोई और जाहिल औरत होती तो

उसने रो-रोकर सारा मोहल्ला सिर पर उठा लिया होता।' प्रिंसिपल साहिबा ने यह भी कहा, 'आम लोगों और लीडरों में यही फ़र्क़ होता है।' उस वक़्त मैं 9वीं क्लास में थी और असमा सातवीं क्लास में पढ़ती थी। वे प्रिंसिपल साहिबा तो ईसाई थीं और ऐसी बातें कर रही थीं, जबकि हमारी दूसरी स्कूल टीचर्स जो मुसलमान थीं, कह रही थीं, 'ये कहाँ से लीडर बन गए, ये तो ग़द्दार हैं, पाकिस्तान की मुख़ालफ़त करनेवाले। लड़कियाँ भी देखो कितनी मक्कार हैं, यह सब एक्टिंग और दिखावा है, चालाक माँ की चालाक लड़कियाँ!'

स्कूल से वापस जब हम अपने घर 5-A, ज़ैलदार पार्क आए तो मंज़र ही और था। पूरी गली लोगों से भरी पड़ी थी। दूर-दूर तक बसें खड़ी थीं, जिनमें सवार होकर लोग दूसरे शहरों से आ गए थे। हम दोनों बहनें गली से गुज़रकर घर के दरवाज़े तक बहुत मुश्किल से पहुँचे, फिर दरवाज़े से घर के अन्दर जाना और ज़्यादा मुश्किल हो गया। कुछ लोग दहाड़े मार-मारकर रो रहे थे और कुछ ख़ामोशी से आँसू बहा रहे थे। ऐसे में जब उन्होंने हमें ख़ामोशी से बस्ते उठाए स्कूल से घर आते देखा तो हैरान रह गए। उन्होंने अपने आँसू पोंछ डाले और कहा, 'जब मौलाना के बच्चे नहीं रो रहे और सब्र व सुकून के साथ हालात का मुक़ाबला कर रहे हैं तो हम रोते और बे-सब्रे होते क्या अच्छे लगते हैं।' कुछ लोगों ने कहा, 'सब्र तो इसी को कहते हैं।' बड़ी मुश्किल से भीड़ में से गुज़रकर जब हम घर के अन्दर पहुँचे तो पूरा घर औरतों से भरा पड़ा था। जो औरतें उस दिन हमारे घर हमदर्दी और दिलासा देने के लिए आई थीं, रो रही थीं। अम्मा जान उनको सब्र की नसीहत कर रही थीं और यही हाल हमारी दादी अम्मा का भी था। जब हमें देखा तो अम्मा जान ने बस इतना कहा, 'बेटा घबराना नहीं, सब्र करना' और फिर हम सबको अपने हाथ से पकाया हुआ खाना खिलाया और जाकर औरतों में बैठ गईं।

उस दिन एक औरत ने अम्मा जान से कहा था, 'बेगम साहिबा! आज रात आप 100 नफ़्ल पढ़ें और फिर तहज्जुद के नफ़्ल पढ़कर मौलाना साहब की ज़िन्दगी व सलामती के लिए दुआ करके यह मन्नत मानें कि जब

सलामती और ख़ैरियत से घर वापस आएँगे तो फिर मैं उसी तरह 100 नफ़्ल शुक्राने के अदा करूँगी।' मतलब यह कि वह सारी रात अम्मा जान ने नफ़्ल पढ़ते हुए गुज़ारी। रात को मैंने जब भी देखा (ऐसी हौलनाक रात में भला नींद किसे आनी थी) उन्हें नफ़्ल पढ़ते हुए पाया।

फ़ज्र की अज़ान सुनते ही हम भी उठ खड़े हुए। फ़ज्र की नमाज़ के बाद अम्मा जान ने तिलावत के लिए क़ुरआन खोला और वही सिलसिला जहाँ से रोज़ाना पढ़ती थीं, पढ़ना शुरू किया। हमें हैरत हुई कि सूरा-2 बक़रा की जो आयत उनके सामने आई वह यह थी—

> "फिर क्या तुम लोगों ने यह समझ रखा है कि यूँ ही तुम जन्नत में दाख़िल कर दिए जाओगे, हालाँकि अभी तुमपर वह सबकुछ नहीं गुज़रा है जो तुमसे पहले ईमान लानेवालों पर गुज़र चुका है? उनपर सख़्तियाँ गुज़रीं, मुसीबतें आईं और वे हिला-मारे गए यहाँ तक कि उस वक़्त का रसूल और उसके साथी ईमानवाले चीख़ उठे कि अल्लाह की मदद कब आएगी। उस वक़्त उन्हें तसल्ली दी गई कि हाँ अल्लाह की मदद क़रीब है।" (क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-214)

इस आयत को अम्मा जान पढ़ती गईं और रोती गईं। फिर मुझे बुलाया और यह आयत दिखाई, कहने लगीं, 'देखो यह ज़िन्दा किताब है, यह इनसान की दुखती रग पकड़ती है। यह दिल का चोर पकड़ती है। यह दुखी इनसान के ज़ख़्मों पर मरहम रखती है। बस शर्त यह है कि तुम इससे दोस्ती कर लो। फिर यह तुम्हारे हालात के मुताबिक़, तुम्हारे दिल की कैफ़ियत के मुताबिक़ तुमसे मामला करेगी, तुम्हें मशूवरा देगी और तुम्हें तसल्ली देगी। अब देखो बिलकुल हमारे हालात और हमारी दिली कैफ़ियत के मुताबिक़ हमें कैसे तसल्ली दे रही है, कैसे हमारे ज़ख़्मों पर मरहम रख रही है। हालाँकि उस वक़्त मेरी उम्र 13 साल थी, लेकिन शायद सबसे बड़ी बेटी एक तरह से माँ की छोटी बहन या सहेली की तरह होती है। इसलिए अम्मा जान अकसर दिल की बातें मुझसे करती थीं। मशूवरा भी मुझसे ही लेती थीं और

मैं उनकी राज़दार थी। मुझपर उन्हें बड़ा भरोसा था। लेकिन फिर भी अब मुझे एहसास होता है कि उस वक़्त मेरे बचपन में जो बातें वे मुझसे करती थीं वह मानो अपने-आप ही से बातें करना था। वे ऐसी बातें थीं जो वे किसी और से नहीं कर सकती थीं। अकसर कहा करती थीं कि बदनसीब वह है, जिसकी बेटी न हो। यही वजह है कि उन्होंने अपनी तीनों बेटियों को जिन नाज़ों से पाला-पोसा और पढ़ाया लिखाया, वे बेटों को नहीं नसीब हुए। बाद में अब्बा जान भी अकसर अपने दिल की बात मुझसे और असमा ही से करते थे।

बस फिर सारा दिन अम्मा जान मुत्मइन रहीं। वे बार-बार इस आयत को पढ़ती रहीं और कहती रहीं, 'वैसे तो सारे ही क़ुरआन पर अल्लाह का शुक्र वाजिब है कि उसने ऐसी ज़िन्दा किताब हमको अता फ़रमाई, लेकिन इस आयत का हम सबपर बहुत ही बड़ा एहसान है कि उसने ऐसे नाज़ुक वक़्त में हमें हौसला दिया, ख़ुश-ख़बरी दी और हमारी मदद की।'

दूसरी रात भी आई और गुज़र गई। अम्मा जान मुत्मइन रहीं, बाहर मर्दों से और अन्दर औरतों से घर भरा रहा। औरतें रोती हुई आती थीं, मगर अन्दर आकर जब अम्मा जान और दादी अम्मा का सब्र देखती थीं तो ख़ामोश हो जाती थीं।

अब्बा जान की सज़ाए-मौत के ख़िलाफ़ मुल्क-भर में विरोध प्रदर्शन, हड़ताल और सज़ा ख़त्म करने की माँग को लेकर एक तूफ़ान उठ खड़ा हुआ। दूसरे मुस्लिम मुल्क ही नहीं, बहुत-से ग़ैर-मुस्लिम मुल्कों के मुसलमानों की तरफ़ से भी गवर्नर जनरल और प्रधानमंत्री के नाम टेलीग्राम बारिश की तरह बरस रहे थे।

हर तरफ़ बहुत तेज़ और बड़े पैमाने पर प्रतिक्रिया हो रही थी। 13 मई को अम्मा जान अस्र की नमाज़ से अभी फ़ारिग़ ही हुई थीं कि जमाअते-इस्लामी के एक साहब आए और उन्होंने कहा, 'बेगम साहिबा को दरवाज़े के पास बुलाइए।' हम सब डर गए कि पता नहीं कैसी ख़बर है? अम्मा जान भी बड़ी घबराई हुई आईं कि एक दम दरवाज़े के पीछे से आवाज़ आई, 'बेगम साहिबा! मुबारक हो, मौलाना की सज़ाए-मौत 14 साल सख़्त क़ैद में बदल

गई है। इसके अलावा हुकूमत के ख़िलाफ़ एक बयान जारी करने के जुर्म में सात साल सख़्त क़ैद की सज़ा और दी गई है।' वे साहब तो अपनी कहे जा रहे थे, उधर अम्मा जान पहला जुमला सुनकर ही सजदे में गिर गईं। उनकी देखा-देखी हम बच्चे भी सजदे में गिर गए। अब तो घर का माहौल ही बदल गया। सब तरफ़ से मुबारक-सलामत शुरू हो गई। यह किसी ने सोचा ही नहीं कि आगे 21 साल की क़ैद है। अम्मा जान बार-बार कह रही थीं, 'अल्लाह का वादा सच्चा है, बेशक अल्लाह की मदद क़रीब है।' फिर कहतीं, 'देखो, आयतें और हदीसें खुद अपना मतलब समझा रही हैं कि हम ऐसे ही हालात के लिए हैं और यह हमारा मतलब है।'

उसी दिन अम्मा जान ने हमको अपना एक ख़ाब सुनाया जो अब्बा जान की कोर्ट मार्शल से सज़ाए-मौत से सिर्फ़ एक दिन पहले उन्होंने देखा था। कहने लगीं, 'मैंने देखा कि एक हवाई जहाज़ आकर उतरा है और उसमें तुम्हारे अब्बा जान हम सबको लेकर सवार हो गए हैं। जहाज़ है कि बड़ी तेज़ रफ़तार के साथ आसमान की तरफ़ उड़ रहा है। मुझे सख़्त चक्कर आ रहे हैं और बड़ी घबराहट हो रही है। फिर अचानक जहाज़ कहीं उतर जाता है और तुम्हारे अब्बा जान मेरा हाथ पकड़कर, सहारा देकर जहाज़ से उतार रहे हैं। उधर मेरी जान पर बनी हुई है और इधर तुम्हारे अब्बा जान की आवाज़ आती है, 'ज़रा नीचे देखो तो सही कि तुम कितनी ऊँचाई पर आ गई हो!' फिर मैं नीचे देखती हूँ तो सच में सड़कों पर लोग बोनों की तरह नज़र आ रहे हैं और बड़ी-बड़ी ऊँची इमारतें खिलौनों की तरह नज़र आ रही हैं। इतने में मेरी आँख खुल गई।'

ख़ाब सुनाकर कहने लगीं, 'आज इस ख़ाब की ताबीर सामने आई है। यूँ महसूस होता है कि अल्लाह को जिस तरह हज़रत इबराहीम (अलैहि॰) के हाथ से हज़रत इसमाईल (अलैहि॰) को ज़िबह् कराना मक़सद नहीं था, बल्कि बाप को ख़लीलुल्लाह और बेटे को ज़बीहुल्लाह बनाना था, उसी तरह हम गुनाहगारों को भी इस बड़े इम्तिहान से कामयाबी के साथ गुज़ारकर बुलन्दियों तक पहुँचाना था।'

इसी तरह जब अब्बा जान को सज़ाए-मौत सुनाई गई, तो साप्ताहिक

अख़बार अफ्रीशिया, लाहौर (25 दिसम्बर 1975 ई॰) में सरगोधा के मियाँ रहीम बख़्श बयान करते हैं कि 'मैंने एक ख़वाब में नबी (सल्ल॰) को दुआ करते देखा था, 'या अल्लाह रहम कर, मौदूदी मेरे दीन का नाम लेनेवाला है, तू उसे अभी ज़िन्दा रखा, वह तेरे दीन का काम कर रहा है, ऐ ख़ुदा! रहम कर।' मियाँ रहीम बख़्श साहब बयान करते हैं कि अचानक आवाज़ आई, 'ऐ मुहम्मद! हमने तेरी दुआ क़बूल की।' इसके बाद अचानक मेरी आँख खुल गई। यह सुबह का वक़्त था और मस्जिद से अज़ान की आवाज़ आ रही थी। मैं घबराकर उठ खड़ा हुआ, फिर अचानक मेरी आँखों से आँसू निकलने लगे और मैं बहुत देर तक सक्ते की हालत में अपनी चारपाई पर बैठा रहा। इस ख़ाब की ताबीर जल्द ही सामने आई कि सज़ाए-मौत ख़त्म होने का ऐलान हो गया।

एक बार किसी ने अम्मा जान से कहा था, 'आपके क़ुरआन व हदीस समझाने के अंदाज़ में जो लुत्फ़ आता है वह किसी और के समझाने में नहीं आता।' उन्होंने जवाब दिया, 'अज़ दिल ख़ेज़द बर दिल रेज़द। (जो बात दिल से निकलती है वह दिल पर असर करती है।) इन आयतों और हदीसों का मतलब जैसा हम जानते हैं कोई दूसरा उसी वक़्त जान सकता है जब वह ऐसे हालात से गुज़रे जैसे हालात से हम गुज़रे हैं।'

अम्मा जान और दादी अम्मा की यह पूरी कोशिश होती थी कि बच्चे ख़ुश रहें और उनके दिल पर कोई बुरा असर न पड़े। हमारी अम्मा जान कहती थीं, 'इनसान का बचपन ख़ुशियों से भरपूर होना चाहिए और उसे कभी असुरक्षा का एहसास न होने पाए। क्योंकि किसी भी क़िस्म की महरूमी अगर बचपन में आदमी को डस ले तो यह चीज़ इनसान की शख़सियत पर बहुत बुरा असर डालती है। ये कड़वी यादें फिर सारी ज़िन्दगी साए की तरह उसका पीछा करती है। हर बच्चे को अपने घर में एक अहम सदस्य की तरह का एहसास होना चाहिए, बल्कि VVIP होने का एहसास होना चाहिए, ताकि उसमें ख़ुद-एतिमादी (आत्मविश्वास) पैदा हो सके..............उन्हें यह फ़िक्र खाए जाती थी कि मेरे बच्चे बचपन ही में बूढ़े हो गए हैं और उनका बचपना छिन गया है। इसकी भरपाई के लिए उन्होंने बड़े जतन किए और

विभिन्न तरीक़ों से हमें मसरूफ़ रखा।

एक दिन मुल्तान जेल से अब्बा जान का पैग़ाम आया कि हर बच्चा मुझे अलग-अलग ख़त लिखे। तो हम सबने उन्हें अलग-अलग ख़त लिखे। फिर उन ख़तों के जवाब में अब्बा जान ने हम सबको अपने हाथ से अलग-अलग ख़त लिखे और हममें से हर एक को एक-एक छोटी-सी थैली भेजी। अब्बा जान की नीले रंग की एक कमीज़ जो पुरानी हो चुकी थी, उसे काटकर उन्होंने ख़ुद सूई-धागे से थैलियाँ सी थीं। उन थैलियों में छिले हुए चिलग़ोज़े, बादाम, पिस्ते और अख़रोट भरे हुए थे। हर थैली के ऊपर, आटे की लेई से चिपकाई हुई चिट पर हममें से हर एक का नाम लिखा हुआ था। किसी पर 'जिगर गोशा' लिखने के बाद बच्चे का नाम लिखा हुआ था।

इन ख़तों और थैलियों में क्या था कि उन्हें देखकर दादी अम्मा तो बिलख-बिलखकर रोने लगीं, अम्मा जान का चेहरा पीला पड़ गया और वे सारा दिन ख़ामोश रहीं। जेल से आनेवाली ये छोटी-छोटी थैलियाँ ज़बाने-हाल से उसी तरह बोल रही थीं, जैसे कोई जीता-जागता इनसान। वे जेल की उदासी, तनहाई, बच्चों से दूरी, घर की याद और न जाने क्या-क्या बयान कर रही थीं। यह ठीक है कि अब्बा जान के हौसले और इरादे पहाड़ की तरह ऊँचे और मज़बूत थे, लेकिन वे थैलियाँ जिनपर जाने-पिदर, गोशा-ए-जिगर और नूरे-नज़र की चिटें लगी हुई थीं, यह बता रही थीं कि हौसले और इरादे के इस पहाड़ के अन्दर धड़कनेवाला दिल भी है।

दूसरी तरफ़ ये नूरे-नज़र, जाने-पिदर और जिगर गोशे इतने छोटे-छोटे और नासमझ थे कि जल्दी-जल्दी अपनी-अपनी थैली खोलकर मेवे खाने लग गए। इन्होंने अपने बचपने में यह भी नहीं सोचा कि किस मुहब्बत व उलफ़त से वे चिलग़ोज़े अब्बा जान ने अपने हाथों से छीले होंगे और फिर किस मुहब्बत से वे थैलियाँ बनाई होंगी और फिर किस प्यार से हर बच्चे का अलग-अलग नाम लिखा होगा। हम बच्चों ने तो अपना काम कर लिया लेकिन दादी अम्मा और अम्मा जान ने वे ख़ाली थैलियाँ सम्भालकर रख लीं. ......अब ख़याल आता है कि काश वह थैली आज भी मेरे पास होती, जिसपर अब्बा जान ने जाने-पिदर के बाद मेरा नाम लिखा था। वह तो एक

ीमती सरमाया और क़ीमती यादगार थी!

अम्मा जान ने एक बार दादी अम्मा से गुज़ारिश की, 'आप किसी को द-दुआ न दें कि आपकी दुआ और बद-दुआ दोनों लग जाती हैं, ये वह क़ा था जब 1953 ई॰ में अब्बा जान जेल में थे और दादी अम्मा ने कहा , 'जिसने मेरे बेटे को जेल में सड़ाया है, या अल्लाह तू उसे पलंग पर लकर ऐसा सड़ा कि उसका आधा धड़ गल जाए।' इसके कुछ महीने बाद ख़बारों में ख़बर छपी कि पाकिस्तान के गवर्नर जनरल मलिक ग़ुलाम हम्मद को फ़ालिज हो गया।

आख़िरकार 29 अप्रैल 1955 ई॰ को क़ानूनी क़मी की बुनियाद पर अब्बा न 25 महीने की क़ैद के बाद रिहा होकर घर आ गए। वह बड़ा ही शियोंवाला मुबारक दिन था। हमारा घर फूलों, हारों और मिठाइयों से भर गा। हर तरफ़ से मुबारक-सलामत की आवाज़ें सुनाई दे रही थीं। वह सारा न इसी ख़ुशी की हालत में गुज़रा और जब रात हुई तो हम सब सोने के ए लेट गए।

ख़ुशी और थकन के मारे उस रात हम बच्चों ने इशा की नमाज़ भी नहीं ी कि अचानक अम्मा जान की आवाज़ कानों में पड़ी, 'ज़रा देखो इन ामों को, बजाय शुक्राने के नफ़्ल पढ़ने के, इन्होंने फ़र्ज़ नमाज़ भी नहीं ी! जब बाप को फाँसी की सज़ा सुनाई गई थी तो ये कैसे नफ़्ल पढ़-पढ़कर आएँ माँग रहे थे! बस निकल गया मतलब! अब थोड़े ही कभी अल्लाह आला से वास्ता पड़ना है!' ये सुनते ही हम उठे और वुज़ू करके नमाज़ ने लगे।

इस पूरी रात अम्मा जान शुक्राने के नफ़्ल पढ़ती रहीं, यानी उन्होंने ज़ाए-मौतवाली रात जो मन्नत मानी थी (कि जब मियाँ ख़ैरियत के साथ वापस आएँगे, तो जिस तरह आज 100 नफ़्ल पढ़े हैं, उसी तरह शुक्राने 100 नफ़्ल पढ़ूँगी) उसको पूरा कर रही थीं। लेकिन इस बार उन्होंने चाय थर्मस अपने पास रखा हुआ था और थोड़ी-थोड़ी देर के बाद चाय पीती । जबकि सज़ाए-मौत की ख़बर सुनने की उस हौलनाक रात में बिलकुल य नहीं पी थी।

सुबह को अम्मा जान कहने लगीं, 'इनसान भी कितना नाशुक्रा है! ज
मियाँ की जान के लाले पड़े हुए थे और मौत सामने खड़ी नज़र आ रही थ
तो ये 100 नफ़्ल बहुत थोड़ लग रहे थे। ना नींद आई, न थकन महसूस हु
न तबीयत बोझल हुई और न ध्यान ही इधर-उधर हुआ। जो अलफ़ा
ज़बान से निकल रहे थे, वही दिल से भी निकल रहे थे। कमर बाद में झुक
थी दिल पहले झुक जाता था। लेकिन कल रात कभी नींद आती थी, क
थकन महसूस होती थी और कभी सिर में दर्द होता था। दिल की वह हाल
सिरे से नसीब ही न हुई जो उस बार में थी। इस कमज़ोरी का ज़िक्र कर
के साथ अम्मा जान तौबा भी कर रही थीं, 'सच है हम सही मानी में अल्ल
का शुक्र अदा नहीं कर सकते, चाहे सारी उम्र सजदे में गिरे रहें।'

एक बार अम्मा जान ने बच्चों की शरारतों से तंग आकर अब्बा ज
से कहा, 'कोई बाप भी औलाद को इतना लाड-प्यार नहीं करता, जित
आप करते हैं। कभी तो इनकी शान में गुस्ताख़ी कर दिया कीजिए। क
तो डाँट-डपटकर इनसे पूछ-गछ किया कीजिए!'

इसपर अब्बा जान ने बड़ी संजीदगी से जवाब दिया, 'तुमको क्या मालू
कि जब में जेल में होता हूँ तो इनके लिए कितना उदास होता हूँ! मैं इन
सूरतों को तरस जाता हूँ, इनकी आवाज़ें सुनने के लिए तड़प जाता हूँ। ज
मैं 1953 ई॰ में जेल गया था तो मेरे (सबसे छोटे) बेटे ख़ालिद (जन्म-
सितम्बर 1952 ई॰, लाहौर) ने नया-नया बोलना सीखा था। जेल में उस
तोतली बातें मेरे कानों में गूँजती थीं। मैं महसूस करता था कि मेरा सब
क़ीमती सरमाया छिन गया है कि जब कभी में जेल से बाहर आऊँगा
ख़ालिद बड़ा हो चुका होगा और उसके बचपन का वह स्टेज गुज़र चु
होगा। फिर तो वह पक्की-पक्की बातें करने लगेगा। मैं जेल में, अ
ख़यालों में इनसे बातें करता था। अब तुम कहती हो कि मैं इन्हें डाँट-ड
करूँ और डराऊँ-धमकाऊँ। ये मुझसे नहीं हो सकेगा।'

फिर एक बार और अब्बा जान ने कहा था, 'ये बच्चे तुमको आसा
से, बग़ैर अल्लाह से दुआ माँगे, इतने सारे मिल गए हैं, इसलिए कहती
कि ये मुझे तंग करते हैं। जिनको ये नहीं मिले होते हैं तुम क्या जानो

लोग इनको हासिल करने के लिए कहाँ-कहाँ जाते हैं। कैसा-कैसा शिर्क
ते हैं और किस-किस जगह जाकर अपना ईमान गँवाते हैं!'.......अब्बा
न तो ये कह रहे थे और हम भी वहीं कान लगाए ये बातें सुन रहे थे,
सपर अम्मा जान बहुत नाराज़ हुईं, 'आपकी इन्हीं बातों की वजह से ये
ने सर चढ़े हैं!

त की दास्तान

हम बच्चों के बार-बार पूछने और ज़िद करने पर एक दिन अब्बा जान
हमें जेल के हालात बताए—

जब मुझे लाहौर से मुलतान जेल ले जाया गया तो दोपहर का वक़्त था।
कमरा दिया गया था, उसमें छत का पंखा नहीं था और नलके की जगह
पम्प था। यह A क्लास क़ैदी का क्वार्टर था। C क्लास का एक क़ैदी
ाज़िम दिया गया था, जो बैठा इंतिज़ार कर रहा था। जो लगभग 40 साल
हट्टा-कट्टा आदमी था। पहले तो उसने मुझको ग़ौर से देखा और फिर
दम उठ खड़ा हुआ। जल्दी-जल्दी सामान सम्भाला। हैंड पम्प चलाकर
थरूम में पानी रखा और कहने लगा, 'मियाँ जी! नहा लीजिए।' मैं
थरूम से निकला तो देखा कि पूरे कमरे में रेत बिछी हुई है और उसपर
ी छिड़ककर, चारपाई बिछाकर बिस्तर कर दिया गया है। मैंने पूछा, 'पहले
इस कमरे में रेत नहीं थी, यह क्यों बिछाई है?' तो वह कहने लगा, 'गर्मी
त है, मैं इस रेत पर पानी डालता रहूँगा, ताकि कमरा ठंडा रहे और आप
हर को आराम कर सकें।' जितनी देर में, मैंने ज़ुहर की नमाज़ पढ़ी,
नी देर में उसने खाना तैयार कर लिया और बड़े सलीक़े से लाकर मेरे
ने रख दिया। साथ ही कहता रहा कि 'मुझे माफ़ कीजिए आपकी पसंद
संद के बारे में कुछ पता नहीं है। बस जल्दी में जो हो सका, कर लिया

फिर उसने यह चीज़ नोट कर ली कि मैं किस वक़्त कौन-सी दवा खाता
इसके बाद वह नाश्ते की, दोपहर के वक़्त खाने की और रात को खाने
सही-सही दवाइयाँ सामने रख देता था। कभी यह कहने की ज़रूरत नहीं
कि तुमने सुबह के वक़्त की दवा नहीं रखी है। अब्बा जान ने बताया,

'उसने जेल में मेरी ऐसी ख़िदमत की और उस मुहब्बत से ख़िदमत की ।
मैं हैरान रह जाता था।'

एक दिन उसने मुझे यह बताया कि जब इस क्वार्टर में मेरी ड्यूटी लग
गई थी तो मुझे बताया गया था कि एक बहुत ही ख़तरनाक क़ैदी आ र
है, जिसने हुकूमत को बहुत परेशान कर रखा है। बस उसको सीधे रास्ते
लाना है। उसको इतना तंग करो कि ख़ामोशी से माफ़ीनामे पर दस्तख़त व
दे और हुकूमत जो शर्तें मनवाना चाहे मान ले। बस तुम्हारा काम उसे
तरह से तंग करना है। खाना इतना ख़राब बनाना कि ज़बान पर न र
जाए। बस जी, मैं क्वाटर में बैठा आपका इन्तज़ार कर रहा था और सं
रहा था कि ज़रा देखूँ तो सही कि आज कैसे आदमी से पाला पड़ता
आख़िर मैं भी पेशेवर मुजरिम हूँ, किसी से कम तो नहीं। फिर जब अ
अन्दर आए तो मैं आपको देखकर बस सोचता ही रहा कि भला आप जै
आदमी से भी किसी को कोई ख़तरा हो सकता है? मियाँ जी! आपको देर
ही पहली नज़र में आपकी मुहब्बत ने मेरे दिल में घर कर लिया।

फिर एक दिन जेल के सुपरिटेन्डेंट आए और पूछा, 'कोई शिकायत
तो बताएँ।' मैंने कहा, 'मुझे तो कोई शिकायत नहीं है, मैं बिलकुल आ
से हूँ।' सुपरिटेन्डेंट दूसरे-तीसरे दिन आते रहे और यही सवाल पूछते र
आख़िर एक दिन पूछ ही लिया, 'आप या तो शर्म की वजह से यह कह
हैं या फिर सही बात नहीं बता रहे हैं।' मैंने कहा, 'भाई अगर क़भी व
तकलीफ़ हुई तो बग़ैर झिझक आपको बता दूँगा, इस वक़्त कोई तकलं
नहीं है।' इस पर सुपरिटेन्डेंट ने कहा, 'फ़ुलाँ लीडर और राजनेता इसी
के इसी क्वार्टर में सिर्फ़ तीन दिन में माफ़ीनामे पर दस्तख़त करके चले
थे, ये माफ़ीनामे सरकार की फ़ाइलों में महफ़ूज़ रहते हैं और जब ये लोग
ज़्यादा ही बढ़-बढ़कर बोलते हैं, तक़रीर और बयान बाज़ी करते हैं तो उन
सिर्फ़ एक इशारा काफ़ी होता है कि आपका माफ़ीनामा कल के अख़बारं
छपवा दिया जाएगा, बस इतना सुनते ही उनको साँप सूँघ जाता है और
साहब तो दो ही दिन में रो-रोकर माफ़ी माँगकर यहाँ से चले गए। आप कि
क़िस्म के आदमी हैं कि बड़े ख़ुश बैठे नज़र आ रहे हैं और कहते हैं वि

ल्कुल आराम से हूँ!'

इसपर मैंने उन्हें समझाया, 'भाई! जब ज़िन्दगी एक ख़ास मक़सद को सिल करने के लिए गुज़ारी जाती है तो फिर ये गर्मी-सर्दी या जेल की ठरी जैसी मंज़िलें कोई हैसियत नहीं रखती हैं। मैंने यह रास्ता ख़ूब सोच झकर अपनाया है। बरतर अज़ अंदेशा-ए-सूदो-ज़ियाँ है ज़िन्दगी के ाबिक़ अपने निजी आराम और तकलीफ़ से मुझे कोई मतलब नहीं रहा ' सुपरिटेन्डेंट साहब फिर कहने लगे, 'आख़िर आप अपने आठ बच्चों को स बात की सज़ा दे रहे हैं? उनके बारे में भी तो कुछ सोचिए।' मैंने जवाब ा, 'बच्चों को तो मैं अल्लाह के हवाले कर आया हूँ। अब वह जाने और वे जानें। उनकी तरफ़ से मैं बिलकुल बेफ़िक्र हूँ—

कारसाज़ मा बिफ़िक्रे-कार मा
फ़िक्र मा दरकार मा आज़ार मा

(हमारा काम बनानेवाला दिन-रात हमारे काम बनाने में लगा हुआ है, जब हम अपनी फ़िक्र खुद करते हैं तो यह हमारी जान के लिए मुसीबत होता है।)'

यह सुनकर सुपरिटेन्डेंट साहब मायूस होकर चले गए। माफ़ीनामे पर तख़त कराने की कोशिशें नाकाम हो गईं।

फिर अब्बा जान ने बताया—

जब मैं तफ़हीमुल-क़ुरआन लिखने में मसरूफ़ होता था, या जब मैं ाज़ पढ़ रहा होता था तो मुझे महसूस होता था कि वह क़ैदी मुलाज़िम टकी लगाए मुझे देखता रहता है। कुछ अर्से बाद बक़रा ईद आ गई। फ़ाक़ से जो राशन जेल से दिया जाता था, वह ख़त्म हो चुका था और रा राशन अभी पहुँचा नहीं था कि ईद की छुट्टियाँ शुरू हो गईं। यहाँ तक ईद की सुबह को राशन बिलकुल ख़त्म हो चुका था। वह सख़्त परेशान कि राशन पहुँचा नहीं, अब आपको नाश्ता कैसे दूँ? यहाँ तक कि बात ते-करते उसके मुँह से जेल प्रशासन के लिए एक-दो गलियाँ भी निकल ो थीं। मैंने उससे कहा, 'रात को चने की दाल और रोटी बची थी, वही करके ले आओ' कहने लगा! 'वे तो मैं आपको कभी नहीं दूँगा। भला

ईद के दिन भी कोई रात की बासी दाल-रोटी खाता है?' मैंने उसे समझा
'भाई! मेरी फ़िक्र न करो मैं बड़ी ख़ुशी से दाल रोटी खा लूँगा, (चूँकि अ
जान को सुबह आठ बजे नाश्ता करने की आदत थी और अपने काम-क
में वक़्त के बहुत पाबन्द थे, इसलिए उन्होंने आराम से दाल-रोटी का ना
कर लिया। यहाँ पर दादी अम्मा की तरबियत रंग ला रही थी जो उन्हें क
सोने का निवाला खिलाती थीं और कभी चटनी रोटी)। जिस वक़्त मैं ना
कर रहा था तो किसी के सिसकियाँ भरकर रोने की आवाज़ आई। प
मुड़कर देखा तो वही क़ैदी मुलाज़िम बैठा रो रहा था। पूछा, 'क्या बाल-ब
याद आ रहे हैं?' कहने लगा, 'मैं तो आपको दाल-रोटी खाते देखकर रो
हूँ। मैं सोच रहा हूँ कि ईद के दिन, रात की बासी दाल-रोटी तो हम ग़री
ने भी कभी नहीं खाई। आप तो बड़े आदमी हैं, आपने भला कहाँ ख
होगी?' मैंने उसे प्यार से समझाया, 'देखो भाई! ये रास्ता मैंने ब
सोच-समझकर चुना है और मैं बड़ी ख़ुशी से इस राह पर चल रहा हूँ। अ
कभी बिलकुल भूखा भी रहना पड़ा तो इन शाअल्लाह मैं आराम से रह लूँ
तुम मेरी वजह से उदास न हुआ करो।

अब्बा जान ने आगे बताया—

मैं तो नाश्ता करके तफ़हीमुल-क़ुरआन लिखने बैठ गया, लेकिन
बेचारे क़ैदी मुलाज़िम ने विरोध जताने के लिए नाश्ता नहीं किया (हालाँ
उसके लिए दाल-रोटी बची रखी थी)। इतने में क्वार्टर का दरवाज़ा ज़ोर-
से खटखटाया गया। उसने दरवाज़ा खोला तो एक संतरी कई नाश्तेद
बड़े-बड़े पैकेट और गठरियाँ उठाए खड़ा कह रहा था, 'मौलाना सा
आपके चाहनेवाले तो फ़ज्र के वक़्त ही ये चीज़ें ले आए थे और जेल
दरवाज़े पर खड़े थे, लेकिन सुपरिटेन्डेंट साहब का ऑफिस ईद की नमाज़
बाद खुला। उसके बाद इन चीज़ों की तलाशी और जाँच-पड़ताल
इसलिए देर लग गई।' अब जो क़ैदी मुलाज़िम ने वे पैकेट, नाश्तेदान
गठरियाँ खोलीं तो उनमें तरह-तरह की नेमतें थीं। मैंने अपने जेल के सा
क़ैदी मुलाज़िल से कहा, 'देखो, यह सब तुम्हारे लिए आया है, क्योंकि
ही उदासी में भूखे बैठे रो रहे थे, अब ख़ूब जी भरकर खाओ और बाक़ी च

रे क़ैदियों में बाँट आओ। आख़िर ये पराठे, शामी क़बाब, हलवा-पूरी, शीर
र्मा और मिठाइयाँ उनको भी तो अच्छी लगेंगी। मैं यह कह रहा था, मगर
ा जेल का साथी कैदी मुलाज़िम बहुत अफ़सोस कर रहा था, 'काश, वे
ल-रोटी मैंने आपको देने के बजाय कौओं को खिला दी होती!' मेरे बहुत
ने पर उसने नाश्ता किया और बाक़ी सारी चीज़ें दूसरे क़ैदियों में बाँट
या और साथ-ही-साथ उनसे कहता, 'मेरे मियाँ जी के लिए ये सब चीज़ें
ई थीं, उन्होंने तुम्हें भिजवाई हैं।'

फिर अब्बा जान ने कहा—

'ईद के दिन दोपहर हुई तो उसी तरह दरवाज़ा खटखटाया गया और
र उसी तरह नाश्तेदान और हाँडियाँ कपड़े में बंधी हुई आ गईं। ऐसे-ऐसे
ने आए कि क़ैदी मुलाज़िम तो हैरान रह गया। उसने मुझे खाना खिलाया
र बाक़ी क़ैदियों में बाँट आया। रात को फिर इतना ही खाना आ गया।
लब यह कि ईद के तीन दिन हमारे साथियों ने मुलतान जेल में इतना
दा और ऐसी-ऐसी क़िस्मों का खाना पहुँचाया कि सारे जेलवाले हैरान हो
।

इधर अब्बा जान हमें ये बातें बता रहे थे, उधर अम्मा जान हमें
वज्जेह करते हुए कह रही थीं, 'देखो सूरा-19 मरयम में यही बात कही
है—

> "जो ईमानवाले नेक अमल करते हैं, रहमान उनके लिए लोगों
> के दिलों में मुहब्बत डाल देता है।"
>
> (क़ुरआन, सूरा-19 मरयम, आयत-96)

वे इसी तरह ज़िन्दगी की घटनाओं को आयतों और हदीसों के साथ
ड़कर हमें उनका मतलब समझाया करती थीं। आज भी अम्मा जान के
अलफ़ाज़ कानों में गूँजते हैं, 'तुम अमल तो करके देखो, फिर आयतें और
सें खुद उठकर तुमको अपना मतलब समझाएँगी।'

इसी क़ैद के दौरान जेल के हालात और घटनाएँ बयान करते हुए अब्बा
न ने बताया—

'एक दिन दोपहर के वक़्त अचानक मेरे क्वार्टर की दीवार की दूस
तरफ़ से आवाज़ आई, 'जनरल साहब का खाना पकड़ लो।' क़ैदी साथी
जाकर आवाज़ दी, 'कौन है?' तो दीवार की दूसरी तरफ़ से एक डलिया
अन्दर रूमाल में लिपटी हुई रोटियाँ के ऊपर सालन का डौंगा और सल
रखी हुई पकड़ाई गई और फिर फ़ौरन ही जनरल मुहम्मद अकबर ख़ान सा
(रावल पिंडी साज़िश केसवाले जिनका क्वार्टर अब्बा जान के क्वार्टर से ल
हुआ था) दीवार कूदकर मेरे क्वार्टर में आ गए और कहा, 'मैं आपके स
खाना खाऊँगा।'

दूसरे दिन फिर उसी तरह उनके क़ैदी साथी ने आवाज़ दी, 'जन
साहब का खाना पकड़ लो।' जैसे ही खाना पकड़ा, जनरल साहब दीव
फाँदकर आ गए और कहने लगे, 'जब (कम्यूनिस्ट) रूस की तरफ़
प्रधानमंत्री लियाक़त अली ख़ान को दौरे का दावतनामा आया था तो उ
वक़्त अमरीका से भी दावतनामा मिला था। सवाल यह है कि रूस
दावतनामा क्यों ठुकराया गया?' फिर कहने लगे, 'अमरीका का सरमायादार
निज़ाम (पूँजीवाद) रूस के इशतिराकी निज़ाम (साम्यावाद) से ज़्य
ख़तरनाक है।

अब्बा जान ने बताया—

'इसी दौरान में किसी ने जेल प्रशासन को मुख़बिरी कर दी कि जन
अकबर ख़ान साहब दीवार फाँदकर मेरे पास आते हैं और हम दोनों घंटों ब
करते रहते हैं। इस 'ख़ौफ़नाक खुलासे' ने तो मानो जेल को हिलाकर
दिया और बस फिर क्या था कुछ ही घंटों के अन्दर वहाँ पर मौ
रावलपिंडी साज़िश केस के सारे क़ैदियों को पुलिस की गाड़ियों में भर
दूसरी जेलों को भेज दिया गया। मेरे क़ैदी साथी ने उनकी रवानगी का आँ
देखा हाल आकर सुनाया कि पुलिस की गाड़ी में सवार होते वक़्त जन
अकबर ख़ान साहब ने नारा लगाया, 'अब वक़्ते-शहादत है आय
जेलवालों को ख़तरा हुआ होगा कि कहीं ये दोनों मिलकर कोई '
साज़िश' न तैयार कर बैठें।'

हीमुल-क़ुरआन और तफ़हीमुल-हदीस का मंसूबा

घर में जब कभी अब्बा जान को तफ़हीमुल-क़ुरआन लिखने का मौक़ा लता तो कहा करते थे, 'देखो तुम लोग मुझे तफ़हीमुल-क़ुरआन लिखने दे रहे हो, अब मैं जेल जाने ही वाला हूँ। जब भी मैं यहाँ मसरूफ़ियत वजह से तफ़हीम नहीं लिख पाता तो अल्लाह मुझे लेजाकर जेल में बैठ हैं, जहाँ ज़्यादा सुकून से लिखता रहता हूँ।' साथ ही यह भी कहते थे तफ़हीमुल-क़ुरआन को पूरा कर लूँ तो इसी अन्दाज़ में तफ़हीमुल-हदीस लेखने के बारे में सोच रहा हूँ।'

हमारे ताया जान (सैयद अबुल-ख़ैर मौदूदी रह०) अब्बा जान पर ज़ोर देते के वे ख़ुद को सियासत में उलझाने के बजाय इल्मी और लिखने-पढ़ने ाम पर ज़्यादा ध्यान दें। मुझे याद है कि एक बार ताया जान ने अब्बा से कहा था कि वे तफ़हीमुल-क़ुरआन की पहली दो जिल्दों पर दोबारा डालें, क्योंकि उनको पढ़ते हुए किसी कमी का एहसास होता है। लेकिन ा जान ने कहा, 'अगर मैंने पहली दो जिल्दों पर दोबारा काम किया तो तीसरी जिल्द पर भी दोबारा नज़र डालने की माँग उठेगी और फिर यह सिला चलता ही रहेगा।'

जब कभी अब्बा जान जलसों और दूसरी राजनीतिक और सामूहिक र्मियों में ज़्यादा मसरूफ़ हो जाते थे तो ताया जान उन्हें समझाते थे, 'ये करने के लिए और दूसरे लोग मौजूद हैं। लेकिन इल्मी, तहक़ीक़ी और ने का काम वह भी इस दर्जे का जो सिर्फ़ आप ही कर सकते हैं, वाले और कितने हैं?' वे अब्बा जान को नसीहत करते थे, 'आप अपना वक़्त लिखने में गुज़ारा करें।' एक बार जमाअत के एक साहब से ताया ने कहा, 'ये जो तुम्हारे मौलाना हैं ना, यह मेरा छोटा भाई है। मैंने उसे साथ सुलाया है, उसकी ज़िदें पूरी की हैं, उसके नाज़ उठाए हैं। मेरा बहुत दुखता है जब तुम उसे जलसों और जुलूसों में खींचे फिरते हो और ो सियासत में उलझाते हो। इस तरह उसका वक़्त बरबाद होता है। यह , तहक़ीक़ी और लिखने का काम करे तो कई नस्लें फ़ायदा उठाएँगी।'

इसी लिए अम्मा जान हम बच्चों पर बहुत ज़ोर देती थीं, 'अपने अब्बा

जान को तंग न किया करो।' जब कभी बच्चे किसी चीज़ के लिए ज़िद व
तो अम्मा जान हमें समझाया करती थीं, 'अगर मैं हर वक़्त तुम्हारे वा
की जान खाती रहती कि अब मुझे यह और यह चाहिए और मेरे बच्चों
ऐसी-ऐसी चीज़ें चाहिएँ, तो ये सारी किताबें जो उन्होंने लिखी हैं, वे न ि
सकते। तुम्हारे अब्बा एक रिसर्च स्कॉलर हैं, एक लेखक और तहर
करनेवाले हैं। उनको ख़ामोशी और सुकून और इत्मीनान की ज़रूरत है।
उनसे कोई माँग न किया करो और न ही उनके सामने अपनी परेशा
बयान किया करो। उनको अपनी बातों में भी न उलझाया करो।' इस
अम्मा जान ने अब्बा जान को ऐसा सुकून और इत्मीनान पहुँचाया कि व
कुछ लिखते थे, ज़ेहनी तौर पर पूरी तरह सुकून और यकसूई के साथ लि
थे।

अब्बा जान, मुनाफ़कत, दिखावा, ज़ाहिरदारी और रियाकारी से
नफ़रत करते थे। एक बार खाने की मेज़ पर, खाना खाते हुए अम्मा
ने हम सब बहन-भाइयों को और ख़ास तौर पर मुहम्मद फ़ारूक़ (जन्
नवम्बर 1943 ई॰, दिल्ली) को नसीहत करते हुए कहा, 'बेटा! नमाज़ पा
से पढ़ा करो, अगर तुम लोग नमाज़ नहीं पढ़ोगे तो लोग क्या कहेंगे
मौलाना मौदूदी के बच्चे नमाज़ नहीं पढ़ते। अब्बा जान खाने के द
ख़ामोश रहे और जब उठे तो वॉश बेसिन पर हाथ धोने के बाद पान
डिबिया उठाकर चलते-चलते कहा, 'लेकिन बेटा! जब भी नमाज़ पढ़ना,
की नमाज़ पढ़ना अपने बाप की पढ़ने के लिए खड़े न होना' और ख़ा
से अपने ऑफ़िस की तरफ़ चल दिए। इस तरह अब्बा जान बड़ी-बड़ी
एक जुमले में कह दिया करते थे, बहस करना उनकी फ़ितरत ही में न

अब्बा जान ने जितना लिखा है, अगर उनकी तहरीरों को जमा
जाए और पेजों का हिसाब लगाकर उनकी ज़िन्दगी के दिनों से आप तक़
करें तो देखें कि एक दिन कितने पेज आते हैं। अब उसके साथ-साथ उ
ज़िन्दगी जिस तूफ़ानी दौर से गुज़रती रही, उसको अगर देखें तो हैरत
है कि इतना काम वे कैसे कर गए? यह काम मुकम्मल ज़ेहनी सुकून
यकसूई के बग़ैर नहीं हो सकता था और यह सुकून उनको अम्मा ज

ग्या कराया था।

अब्बा जान ने सूरा-12 यूसुफ़ की जो तफ़सीर लिखी है, उसे पढ़ते हुए
ा महसूस होता है कि वे उस वक़्त वहीं-कहीं मौजूद थे और आँखों देखा
' बयान कर रहे हैं। सूरा-18 कहफ़ या सूरा-105 फ़ील की तफ़सीर पढ़ते
भी ऐसा ही महसूस होता है कि मानो वे ज़ेहनी तौर पर उसी ज़माने और
ह (Time and Space) में चले गए थे।

सालों बाद जद्दा के गर्ल्स कॉलेज में अरबी शोबे की हैड जो मूलरूप से
ायन थीं, मुझसे कहने लगीं कि एक जुमले में अपने अब्बा जान की ख़ूबी
न करो तो मेरे मुँह से एकदम यह जुमला निकला, 'वे एक और ही
या में रहते थे।' वे इस जवाब से बहुत खुश हुईं और कहने लगीं, 'इमाम
-तैमिया रह॰ (मृत्यु-1328 ई॰) की भी यही ख़ूबी थी।

अब्बा जान की ख़्वाहिश होती थी कि जब वे खाने की मेज़ पर आएँ तो
वहाँ मौजूद हों। बच्चों से मिलने का यही एक वक़्त था। इसलिए वे
ते थे कि सब बच्चे उनके साथ खाना खाएँ। अपने काम-काज में वे
ज़्यादा वक़्त के पाबन्द थे कि चाहें तो उनसे आप घड़ी मिला लें। इसी
हम उनके आने से पहले खाने की मेज़ पर आ जाते थे। लेकिन अकसर
महसूस होता था कि वे खाना तो खा रहे हैं, लेकिन ज़ेहनी तौर पर खाने
ौरान भी वे किसी सोच-विचार में मसरूफ़ हैं।

अब्बा जान हमको नसीहत करते हुए अकसर कहा करते थे, 'इनसान
न्दर भलाई और बुराई दोनों मौजूद होती हैं। आदमी का कमाल यह
चाहिए कि वह दूसरे की भलाई से फ़ायदा उठाए और उसकी बुराई से
-आपको महफ़ूज़ रखे। सख़्त नादान होता है वह इनसान जो दूसरों की
से तो नुक़सान उठाए और उनकी भलाई से महरूम रह जाए।'

किसी को बुरा-भला कहना या ताने देना तो उनकी फ़ितरत ही में नहीं
अगर कभी किसी को सख़्त बात कहते भी तो उसी वक़्त जब उन्हें
ही ज़्यादा तकलीफ़ पहुँची हो और वह जुमला भी यह होता, 'उन लोगों
ताबिक़ मेरी शराफ़त मेरा सबसे बड़ा जुर्म है।' फिर भी जहाँ तक
ान होता उनकी कोशिश यही होती थी कि दूसरों की ख़ैर व भलाई को

अपील करें और उसको उभारकर सामने लाएँ और उनकी बुराई को दूर व
यह पौन सदी (75 साल) की सख़्त तकलीफ़देह कशमकश है, जिसमें वे
हिकमत और सूझ-बूझ से मुस्लिम उम्मत के अन्दर हर तरह से सुधार
कामों में लगे रहे।

कभी-कभी मैं सोचती हूँ कि अब्बा जान की शादी अगर किसी जा
और तरह-तरह की माँग करनेवाली, झगड़ालू क़िस्म की औरत से हुई ह
तो क्या होता। अम्मा जान को तो शायद अल्लाह ने बनाया ही अब्बा
के लिए था। उनका बेहतरीन अदबी और इल्मी रुझान, अपनी ज़ात
बेगाना, ख़ुद्दारी और अब्बा जान की दिलदारी की तो कोई हद ही नहीं
अरबी ज़बान का एक मुहावरा है जिसका मतलब यह है, 'औरतें ख़ुशबू
हैं, जो ख़ुद तो पर्दे में रहती हैं, मगर उनका सलीक़ा और थोड़े से पैसे
बनाई हुई बहुत सारी इज़्ज़त और बच्चों की तालीम व तरबियत सबको
आती है।'

अब्बा जान हमसे कहा करते थे, 'अगर मुझे तुम्हारी तरबियत की
तरह मोहलत मिलती तो तुम्हें दुनिया की मिसाली औलाद बनाता। क्य
मैं तुमपर पूरा ध्यान नहीं दे सका इसलिए तुमसे पूछताछ करने और ज
माँगने का हक़ भी नहीं रखता। मैंने अपना वक़्त दीन के कामों और अ
के दीन को क़ायम करने के लिए वक़्फ़ (समर्पित) कर दिया है, इस
तुम्हारी तरबियत अल्लाह के हवाले करता हूँ। बस इस तरह वे अ
ज़िन्दगी का हर पल अल्लाह के दीन की ड्यूटी अंजाम देने में लगाते

इन्तिक़ाल से कुछ महीने पहले एक साहब ने मुलाक़ात के दौरान
आलोचना करते हुए अब्बा जान से कहा, 'ईरान में आयतुल्लाह ख़ु
साहब (मृत्यु, 3 जून 1989 ई॰) इस्लामी इंक़िलाब लाने में कामयाब हो
मगर आप पाकिस्तान में क्यों इस्लामी इंक़िलाब नहीं ला सके?

अब्बा जान ने जवाब दिया, 'मैं तो अल्लाह के काम के लिए दिहाड़
मज़दूर हूँ। मुझे अपने हिस्से की दिहाड़ी करनी है और अपने मालि
अपनी मज़दूरी लेनी है। अब यह कि इमारत कब पूरी होगी? कैसी ह
पूरी हो भी सकेगी या नहीं? इससे मज़दूर को क्या मतलब। उ

ानदारी से अपनी दिहाड़ी से मतलब है।

मतलब यह कि अपनी ज़िन्दगी का एक-एक पल अब्बा जान ने अल्लाह राह में अपने हिस्से की दिहाड़ी करने में गुज़ारा, ज़बान और क़लम से, क्र और अमल से, यानी हर तरह से अपना फ़र्ज़ पूरा किया। वे न दाबाद के नारों की तमन्ना रखते थे और न ही मुर्दाबाद के नारों से कभी । आम इनसानों से तुलना करके देखें तो ऐसा लगता है कि उनकी ज़ात, का जिस्म, उनकी ज़रूरतें, उनकी औलाद और उनका भविष्य, उनके बिक्र शायद कोई वुजूद ही नहीं रखता था। हमने अब्बा जान को उनकी ज़िन्दगी में जितना बेनियाज़ देखा है, उतनी बेनियाज़ी किसी और मी में नहीं देखी।

दादी अम्मा हम बच्चों से कहा करती थीं, 'सैयदों की अस्ल नस्ल में कुछ यादी ख़ूबियाँ होती हैं। जब कोई तुमसे कहे कि मैं सैयद हूँ तो उसे सात तों से परखो—

सैयद को ग़ुस्सा नहीं आता और आता है तो सिर्फ़ दीन के मामले में आता है।

सैयद कभी ज़ाती इन्तिक़ाम नहीं लेता।

सैयद कभी गाली के जवाब में गाली नहीं देता।

सैयद कभी किसी के लिए दिल में कीना (ईर्ष्या) नहीं रखता।

सैयद कभी झूठ नहीं बोलता, किसी की चुग़ली नहीं करता।

सैयद खाने में कमी नहीं निकालता। भूख और प्यास से बेहाल नहीं होता। जो सामने आए सब्र से खाकर अल्लाह का शुक्र अदा करता है।

सैयद पर ज़िन्दगी में कभी-न-कभी सख़्त वक़्त आता है और उसकी जान तक ख़तरे में होती है, लेकिन वह हिम्मत नहीं हारता, अल्लाह के भरोसे पर हर ख़तरे से लड़ जाता है और बुरे-से-बुरे हालात से टक्कर ले लेता है।'

दादी अम्मा की बताई हुई ये ख़ूबियाँ अस्ल में बच्चों की तरबियत और ज़ेहन को सही दिशा देने के उसूल थे, ताकि वे अपने नस्ली सिलसिले लेहाज़ से इन चीज़ों का ख़ास ख़याल रखें। फिर भी अब्बा जान में ये

सातों ख़ूबियाँ भरपूर अन्दाज़ में मौजूद थीं। जिन हालात में आम आ
गुस्से से आपे से बाहर हो जाता है, उन हालात में भी वे सब्र और क
की सूझ-बूझ से काम लेते थे। किसी के ख़िलाफ़ दिल में कीना नहीं र
थे।

कुफ़्र अस्ल दर तरीक़ते-मा कीना दाश्तन
आईने-मास्त सीना चूँ आईना दाश्तन
(हमारे ज़िन्दगी गुज़ारने के तरीक़े में किसी के ख़िलाफ़ दिल में नफ़रत और कीना रखना कुफ़्र है। हमारा तरीक़ा यह है कि दिल को शीशे की तरह साफ़ रखा जाए।)

वे लोग भी जो अब्बा जान को सख़्त सज़ाएँ देने और बिला वजह
में रखने के ज़िम्मेदार थे, वे भी जब कभी बाद में मिलने आते तो अब्बा
उनसे भी उसी ख़ाकसारी और दिल खोलकर मिलते। कभी उन्होंने बातों-
में भी यह जताने की कोशिश नहीं की कि आप लोगों ने मेरे साथ क्या सु
किया था।

एक दिन, एक साहब अब्बा जान से सिफ़ारिशी ख़त लेने आए। वे
रिटायर हो चुके थे और हाथ तंग था। माली परेशानियों की वजह से
या अबू-धाबी जाना चाहते थे। आदत के मुताबिक़, अब्बा जा
सिफ़ारिशी ख़त दे दिया, जो वहाँ उनके बहुत काम आया और अच्छी नौ
भी मिल गई। ये साहब कौन थे? ये वही साहब थे जिन्होंने फ़ौज में अ
नौकरी के दौरान मार्शल लॉ अदालत के जज की हैसियत से अब्बा जा
फाँसी की सज़ा सुनाई थी और उनके अंग्रेज़ी में दस्तख़त आज तक पे
पर छपे हुए हैं। फाँसी की सज़ा सुनानेवाले के लिए सिफ़ारिशी ख़त औ
आला ज़र्फ़ी (कुशादा दिली) सिर्फ़ अब्बा जान का ही हिस्सा थी।

जनरल मुहम्मद आज़म ख़ान, जिनके ज़माने में अब्बा जान का
मार्शल हुआ था, बाद में अकसर मिलने आया करते थे। अब्बा जा
हज़रत मसीह (अलैहि॰) के इस क़ौल (कथन) पर अमल करते थे
मछलियों को पकड़नेवालो। आओ मैं तुम्हें इनसानों का शिकार करना
दूँ। अपने क़ौल से, अपने अमल से और अपने कर्म से इनसानों का शि

और उन्हें अल्लाह की बन्दगी के जाल में ला डालो' (अपने जाल में
)।
अपने बेहतरीन अख़लाक़ की वजह से उन्होंने अपने दुश्मनों के दिलों
ो घर कर लिया। हम गवाह हैं कि अब्बा जान ने अपनी ज़ात पर
ायाँ कसनेवाले भुट्टू साहब के लिए भी हमेशा अच्छी बात ही कही।
ा नाम उन्होंने हमेशा इज़्ज़त के साथ लिया और हमेशा यही कहा कि
ाह उन्हें सीधे रास्ते पर लाए और हालात को बेहतर बनाए, ताकि इस
का और इस क़ौम का और ज़्यादा नुक़सान न हो।'
अब्बा जान ने कभी गाली के बदले गाली तो दूर की बात है, पलटकर
कोई सख़्त लफ़्ज़ शब्द भी नहीं कहा। मुझे यह वाक़िआ भी अच्छी
याद है कि एक बार हमारे बचपन में अब्बा जान, अछरा की एक
ाद में जुमे की नमाज़ अदा करने के बाद वापस आए थे। मस्जिद के
ा अब्बा जान के सख़्त ख़िलाफ़ थे। उन्होंने अपने सामने बैठे हमारे
ा जान की आँखों में आँखें डालकर उन्हीं के ख़िलाफ़ सारा खुतबा दिया
आख़िर में आकर तान इस अनोखे तर्क पर तोड़ दी कि अगर कोई
देया' मर जाए और उसकी क़ब्र पर बेरी का पेड़ उग आए, और उस
के पत्ते खाकर अगर कोई बकरी दूध दे, तो यह दूध पीना भी हराम है।
जान के साथ जो भाई जुमे की नमाज़ पढ़ने गए थे, वापस आकर हँसी
ट-पोट हो रहे थे और हमें उस आलिम के ख़ुतबे का यह हिस्सा सुना
। लेकिन अब्बा जान बेहद वक़ार और संजीदगी के साथ बैठे थे, बल्कि
हो-होकर हम हँसनेवालों की तरफ़ देख रहे थे कि भला यह भी कोई
की बात है।

सी तरह एक बार जामिया अशरफ़िया लाहौर के एक बहुत बड़े
मे-दीन ने अब्बा जान से कहा, 'मौलाना अहमद अली लाहौरी साहब
-22 फरवरी 1962 ई॰) ने आपकी आलोचना की है, मगर आपकी तरफ़
ई जवाब नहीं आया। इस ख़ामोशी से बहुत-से शक व शब्हे पैदा हो
।' अब्बा जान ने जवाब में कहा, 'मुझपर जो आदमी भी बिला वजह
वना करता है, बेशक उससे मुझे दुख होता है, लेकिन इस हवाले से

मौलाना अहमद अली साहब का मामला बिलकुल जुदा है। उनकी नें
इतनी ज़्यादा हैं कि वे आलोचना करते हैं तो मुझे यक़ीन है कि उ
नेकियों की वजह से उनकी ये बेबुनियाद आलोचना अल्लाह माफ़ कर
और मेरी ख़ताएँ इतनी हैं कि मेरी ख़ामोशी की वजह से उनमें कुछ कम
जाएगी।

अब्बा जान को भूख और प्यास पर बहुत ज़्यादा क़ाबू हासिल था
खाने में कभी कोई कमी नहीं निकालते थे। अगर कभी ग़लती से पकाने
औरत नमक ज़्यादा डाल देती या बिलकुल ही डालना भूल जाती तो वे
निकाले बग़ैर सब्र और शुक्र से खा लेते थे और अगर कोई बच्चा शिक
करता तो कहते थे, 'रोज़ाना तो ठीक पकता है, अगर किसी एक दिन
कमी रह भी गई है, तो भला उसमें उलझने और नाराज़ होने की क्या ज़
है।' उन्हें देखकर हम सब बहन-भाई भी खाने में अकसर कमी
निकालते थे। अगर किसी के मुँह से लापरवाही में ऐसी-वैसी बात नि
जाती थी तो फ़ौरन दादी अम्मा कहती थीं।, 'यह नक़ली सैयद है, य
नया-नया मुसलमान है बेचारा, क्या करे अपनी आदत से मजबूर है।
लिए डर के मारे कोई कुछ नहीं कहता था। दादी अम्मा के इन्तिक़ा
बाद भी हम बहन-भाइयों में यह कहने की आदत बाक़ी रही और ख
कमी निकालने वाला 'नक़ली सैयद' और 'नया-नया मुसलमान' कह
रहा।

उन्हीं दिनों की बात है, फ़लस्तीनी मुसलमानों की एक टीम लाहौर
और अब्बा जान से मिलना चाहा। उनको शाम की चाय पर बुलाया
हमारे घर आने से कुछ घंटे पहले पता चला कि उनके साथ कुछ और
होंगी। औरतों और मर्दों की साझा महफ़िल की हमारे घर में कोई गुं
नहीं थी। अब्बा जान ने जल्दी से औरतों के लिए अन्दर के लं
इन्तिज़ाम करवा दिया और हमें हिदायत की कि आप लोग ही सब मे
औरतों की ख़िदमत व देख-भाल करेंगे।

यह भरी बरसात का मौसम था, जिस वक़्त टैन्ट सर्विसवाले मेज़
रहे थे, काली स्याह घटा घिरकर आ गई और ऐसा लगता था कि बारि

रू होने ही वाली है। हम लोग बहुत घबरा गए और अब्बा जान से कहा, अगर बाहर मेहमान औरतों को बिठाया और बारिश शुरू हो गई तो कितनी गदड़ मचेगी!' अब्बा जान ने बहुत इत्मीनान से कहा, 'इन शाअल्लाह! ारिश नहीं होगी।' हमने कहा, 'बारिश तो बिलकुल तैयार खड़ी है।' अब्बा ान ने फिर उसी सुकून से ज़ोर देकर कहा, 'मैंने कहा ना, इन शाअल्लाह! ारिश नहीं होगी।' और फिर देखते-ही-देखते घटा छट गई और नीला साफ़ ासमान निकल आया। हवा ऐसी सुहावनी चली कि दिल ख़ुश हो गया। हमान आए, आराम से बैठे, चाय पी और चले गए। जब सब मेहमान चले ए और सारी चीज़ें उठा ली गईं तो बादल फिर घिरकर आ गया। इसके ाद सारी रात मूसलाधार बारिश हुई, बहुत पानी बरसा।

उस वक़्त हमारी अम्मा जान ने हमसे कहा था, 'देखो, ये जो दोनों ाँ-बेटे हैं ना (अब्बा जान और दादी अम्मा) ये जो कुछ कह दिया करें, उसे ुपचाप मान लिया करो। इनसे बहस न किया करो। ये जो कुछ कहते हैं, नल्लाह इनकी बात पूरी कर देता है।' फिर अम्मा जान ने हमें नबी (सल्ल॰) ी ये दो हदीसें सुनाई–

> 1. अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) ने फ़रमाया, "अल्लाह के बन्दों में कुछ ऐसे हैं कि अगर वे अल्लाह पर क़सम खा लें, अल्लाह उनकी कसम पूरी कर देता है। (हदीसः बुख़ारी, मुस्लिम)
>
> 2. अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) ने फ़रमाया, "बहुत-से ख़राब हुलिएवाले, जिनके लिए दरवाज़े नहीं खोले जाते ऐसे हैं कि अगर वे अल्लाह पर क़सम खालें तो अल्लाह उनको उस क़सम में सच्चा कर देता है। (हदीसः मुस्लिम)

1957 ई॰ में 6 और 7 दिसम्बर की दरमियानी रात को दो बजे थोड़ी-सी बीमारी के बाद दादी अम्मा इन्तिक़ाल कर गईं। सारी उम्र 'मन मरीज़म तू तबीबम' मैं मरीज़ हूँ और तू (अल्लाह) मेरा तबीब है, कहकर तंदरुस्त हो जानेवाली दादी अम्मा आख़िरकार अपने हक़ीक़ी तबीब से जा मिलीं, यानी हमेशा के लिए ठीक हो गईं।

दादी अम्मा के इन्तिक़ाल के बाद आम लोगों का ख़याल था कि अम्म जी के बेटे इतने नामी-ग्रामी आलिमे-दीन हैं, ज़रूर अपनी अम्मा को सवा पहुँचाने के लिए क़ुल, दसवाँ, बीसवाँ और चालीसवाँ करेंगे और ख़ू बिरयानी-ज़रदे की देगें पकेंगी, हलवे और नान बाँटे जाएँगे। लेकि देखनेवाले यह देखकर हैरान रह गए कि अब्बा जान ने न दादी अम्मा वे क़ुल किए और न दूसरी ही रसमें। इसपर जितने मुँह उतनी ही बातें कहनेवालों ने तो यहाँ तक कहा कि 'या अल्लाह! तू सबको नेक औलाद दे ऐसी औलाद तू किसी को भी न दे, जिसने अम्मा जी को क़ब्र में औंधा डाव दिया और फिर पलटकर भी न पूछा।' इन बातों का हमारे घर में सबने बहुत बुरा माना, लेकिन अब्बा जान ने इन तबसिरों का ख़ूब मज़ा लिया।

अब तस्वीर का दूसरा रुख़ देखिए। यह किसी को मालूम न था कि एव ग़रीब आदमी जो दमे का पुराना मरीज़ था और बीमारी की वजह से अपनी रोज़ी भी ख़ुद नहीं कमा सकता था, रोज़ाना दोपहर को हमारे घर आता थ और उसको बड़ी इज़्ज़त से खाना खिलाया जाता था। खाना खाने के बाद वह हमारे घर में ही चारपाई पर लेट जाता था और रात को खाना खाकर अपने घर चला जाता था। अब्बा जान का हुक्म था कि दोपहर को उसे खाना, दादा अब्बा को सवाब पहुँचाने के लिए खिलाया जाए और रात को दादी अम्मा को सवाब पहुँचाने के लिए खाना खिलाया जाए। फिर उसी साल 'राबता-ए-आलमे-इस्लामी' के सम्मेलन में सऊदी अरब जाना हुआ तो अब्बा जान ने दादी अम्मा को सवाब पहुँचाने के लिए हज किया, इसी तरह कई उमरे भी किए।

अब्बा जान की तीसरी गिरफ़्तारी

6 जनवरी 1964 ई॰ को अब्बा जान फिर जेल चले गए और किताबों से भरे बड़े-बड़े संदूक़ जेल जाने शुरू हो गए। जेलवाले भी हैरान होते थे कि A क्लास के दूसरे क़ैदियों के लिए हलवे और तरह-तरह के खाने आते हैं, मगर मौलाना साहब के लिए सिर्फ़ किताबें आती हैं। उस वक़्त अब्बा जान लाहौर जेल में थे, जहाँ अब शादमाँन कालोनी है। हर हफ़्ते हम मुलाक़ात के लिए जाते थे। इस दौरान अम्मा जान काफ़ी बीमार रहीं। दादी अम्मा भी

हीं रही थीं। उनकी मौजदूगी अम्मा जान के लिए बहुत बड़ा अख़लाक़ी हारा होती थी।

गिरफ़्तारी के कुछ वक़्त पहले, फ़ील्ड मार्शल सदर मुहम्मद अय्यूब ख़ान मृत्यु-20 अप्रैल 1974 ई.) से अब्बा जान की बड़ी यादगार बातचीत हुई। ह मुलाक़ात लाहौर के गवर्नमेंट हाउस में हुई थी। गवर्नर मग़रिबी ाकिस्तान अमीर मुहम्मद ख़ान ऑफ़ काला बाग़ (मृत्यु-26 नवम्बर 1967 .) भी इस मौक़े पर मौजूद थे। अय्यूब ख़ान साहब का कहना था, 'मौलाना ाप सियासत छोड़ दें। मुल्क को और हुकूमत को आपकी बड़ी ज़रूरत है।'

अब्बा जान ने कहा, 'अय्यूब साहब! आपने सारी ज़िन्दगी फ़ौज में ख़िदमत अंजाम दी है, भला आप किस तरह मुझे ज़िन्दगी के सामूहिक ामलों में दिलचस्पी लेने से रोक सकते हैं? और किस उसूल के तहत सियासत से दूर रहने का मशूवरा दे रहे हैं?'

अय्यूब ख़ान साहब ने फ़रमाया, 'मौलाना! सियासत गंदा खेल है, आप ैसे आलिम इनसान को इसमें नहीं आना चाहिए।'

अब्बा जान ने जवाब दिया, 'तो आपका क्या ख़याल है इसे गंदा ही हना चाहिए? इसमें गंदे लोगों के बजाय साफ़-सुथरे किरदार के लोग आएँगे ाभी तो यह गंदगी साफ़ होगी!'

इसके बाद अय्यूब साहब ने कहा, 'आप अपने बच्चों के नाम से फ़ैक्ट्रियाँ लगाइए, हम आपको बैंकों से क़र्ज़ देंगे, आपको परमिट और ााइसेंस देंगे, जिस अरब मुल्क में आप चाहें हम आपको सफ़ीर (राजदूत) नाकर भेज देंगे।' मगर इन सारी पेशकशों के जवाब में, इधर एक ेनियाज़ी की शान थी और बस। अब्बा जान ने सिर्फ़ यह कहा, 'आपने मेरे ारे में ग़लत अंदाज़ा लगाया है।'

अय्यूब साहब हैरान थे कि ऐसे लोग भी हो सकते हैं, जो रूपए और मेट्टी को एक नज़र से देखते हैं। अब्बा जान अकसर एक शेअर पढ़ा करते े, जो ख़ुद उनके हालात के मुताबिक़ था—

हज़ार देने का एक देना है
एक दिले बे-मुद्दआ दिया तूने

अब्बा जान ने एक जगह लिखा है, 'ग़ैब पर ईमान, दिल की उस हाल
का नाम है, जिसकी बुनियाद पर इनसान ग़ायब चीज़ों की ख़ातिर उन ची
का इनकार कर देता है जो उसके सामने होती हैं और उन्हें वह अपनी आँ
से देख रहा होता है। आख़िरत की कामयाबी के लिए दुनिया के फ़ायदों
ठुकरा देता है, दुनियावी नुक़्ते-नज़र से सौ-फ़ीसद घाटे का सौदा कर लेता
और इसपर मुत्मइन रहता है। ग़ैब पर ईमान की बुनियाद पर इनसान दुनि
और दुनिया के फ़ायदे और नुक़सान से दूर बहुत दूर जन्नत की तरफ़ देख
है और मामले करता है। उसकी निगाह जन्नत के नज़ारों पर जमी होती
जन्नत की नहरों, जन्नत के फल, उसकी छाओं और उसकी राहतों पर ज
होती है।

1964 ई॰ में गिरफ़्तारी के बाद अब्बा जान पर 'बग़ावत' का मुक़द्द
चलाया गया। उस वक़्त के होम सेक्रेटरी साहब ने अब्बा जान की मौजूद
में हाई कोर्ट के सामने क़सम खाकर झूठी गवाही दी और उसी के बदले
अय्यूब ख़ान ने थल के इलाक़े में उनको बहुत बड़ी जायदाद इनाम के त
पर दी। इन साहब ने अपने दोनों बेटों को ज़मीन पर क़ब्ज़ा लेने के लि
भेजा। ज़मीन के पुराने मालिक सख़्त ग़ुस्से में थे। उन्होंने सेक्रेटरी साहब
बेटों को कुल्हाड़ियाँ मारकर क़त्ल कर दिया। लाशें सारा दिन सख़्त गर्मी
धूप में पड़ी रहीं। क़ातिल किसी को लाशें उठाने नहीं दे रहे थे। आख़िर 'ब
साहब' बहुत बड़ी तादाद में पुलिस बल लेकर ख़ुद गए और लाशें उठाव
लाए। उनके सिर्फ़ दो ही बेटे थे। एक की उम्र 32 साल थी और दूसरे
28 साल। हमारे एक मिलनेवाले उनके यहाँ ताज़ियत (शोक व्यक्त) क
के लिए गए थे। उन्होंने हमें बताया, 'बड़े साहब और उनके सारे घरव
अल्लाह को बुरा-भला कह रहे थे। हम तो कानों में उँगलियाँ डाल, चुपच
वहाँ से भाग आए वरना हम भी गुनाहगार होते।'

अब्बा जान ने एक जगह लिखा है, 'ग़रीबी, जिहालत और अंग्रेज़ों
डेढ़ सौ साल तक ग़ुलामी ने हमारे ज़्यादातर लोगों को बे-ग़ैरत और नफ़्स
ख़ाहिशों का ग़ुलाम बना दिया है। वे रोटी और इज़्ज़त के भूखे हैं। उन
यह हाल हो गया है कि जहाँ किसी ने रोटी के कुछ टुकड़े और नाम के

ख़लौने फैंके, ये कुत्तों की तरह उसकी तरफ़ लपके। अपने दीन और ईमान पने ज़मीर, अपनी ग़ैरत और शराफ़त, अपनी क़ौम और मिल्लत के ख़लाफ़ कोई भी काम करने में उनको शर्म नहीं आती। पिछले डेढ़ सौ साल ा तजरिबा बताता है कि इस्लाम और मुसलमानों की जमाअत से एक-दो ही सैंकड़ों, हज़ारों बेईमान और ग़द्दार अंग्रेज़ों को मिल गए, जिन्होंने बान से, क़लम से, हाथ और पाँव से यहाँ तक कि तलवार और बंदूक़ तक अपने मज़हब और अपनी क़ौम के मुक़ाबले में दुश्मनों की ख़िदमत की।

जब अब्बा जान जेल से छूटकर घर आए तो हमारे एक चाहनेवाले जो टट बैंक ऑफ़ पाकिस्तान में ऊँचे पद पर थे, हाथ में मिठाई का डिब्बा लिए बारकबाद देने आए। अपनी आदत के मुताबिक़ वे चहक नहीं रहे थे, ल्कि चुपचाप से थे। थोड़ी देर बैठकर चले गए। उनके चले जाने के बाद न लोगों ने हैरानी से कहा कि 'आज ये इतने बुझे-बुझे से क्यों थे?' अब्बा ान ने उसकी वजह बताई, 'जमाअत पर पाबन्दी के दौरान मुक़द्दमे के ालसिले में पुलिस की गाड़ी में मुझे हाई कोर्ट लाया जा रहा था, सुपरिटेन्डेंट ॉफ पुलिस मेरे साथ बैठा हुआ था और गाड़ी हाई कोर्ट के गेट की तरफ़ ड़ रही थी। सामने ये साहब अपनी गाड़ी ख़ुद चलाते हुए आ रहे थे। जैसे मेरी आँखें उनसे चार हुईं, अचानक ही मेरा हाथ सलाम के लिए उठ गया ौर मैंने इशारे से इन्हें सलाम किया। इस अल्लाह के बन्दे ने मेरी तरफ़ खा तो ज़रूर, मगर जवाब दिए बग़ैर आगे बढ़ गया। सलाम का जवाब इसलिए नहीं दिया कि कहीं सुपरिटेन्डेंट ऑफ पुलिस न देख ले।' फिर अब्बा ान ने हमें समझाया, 'यह बात मैंने आप लोगों को इसलिए बताई है कि प दुनिया और इसकी ढलती-फिरती छाँव की हक़ीक़त को समझें। याद खो कि सारी दोस्तियाँ, रिश्तेदारियाँ और मुहब्बतें तभी तक होती हैं जब तक ादमी के हालात अच्छे हों, जैसे ही हालात बदलते हैं, सारी चाहतें, दोस्तियाँ ौर रिश्तेदारियाँ दम तोड़ देती हैं।'

अगर अब्बा जान हमको यह बात नहीं भी बताते तो हमको इतना तो जरिबा हो चुका था कि हम कभी किसी के ज़ाहिरी रंग-ढंग से धोका नहीं ा सकते थे। जब अब्बा जान जेल से बाहर होते थे तो हम मौलाना के

साहब ज़ादे और साहब ज़ादियाँ होते थे और जैसे ही वे जेल जाते थे, त
ऐसा महसूस होता था कि इस भरी दुनिया में हम अकेले हैं। जैसे ही अब्ब
जान जेल से रिहा होकर आते थे, ऐसा महसूस होता था कि हमपर जा
छिड़कनेवाले तो बहुत ज़्यादा हैं।

शायद यही वजह है कि हम आगे बढ़कर किसी से नहीं मिलते, बल्कि
इस इन्तिज़ार में रहते हैं कि वह हमसे पहले मिले और इसी लिए लोग ह
मग़रूर और कम मिलनेवाले समझते हैं। वजह यह है कि अब्बा जान व
वजह से लोग दूसरों के सामने हमसे आँख मिलाना पसन्द नहीं करते थे कि
बेकार में सर्विस रिकार्ड ख़राब हो जाएगा, तरक़्क़ी रुक जाएगी और पत
नहीं कहाँ-कहाँ पूछताछ होगी। यह ख़ुद को सम्भालकर रखने और मिलने
पहल न करने की आदत बचपन से इतनी पक्की हो चुकी है कि अब बदल
से भी नहीं बदलती।

घर पर पुलिस का छापा

1966 ई॰ की बात है, रमज़ान का महीना और तरावीह का वक़्त था
लोग तरावीह के लिए जमा हो रहे थे कि अचानक अछरा पुलिस स्टेशन
थानेदार दो सिपाहियों के साथ हमारे घर आया और पैग़ाम दिया कि मु
मौलाना से एक बहुत ज़रूरी बात बिलकुल अकेले में करनी है। अब्बा जा
ने अपने ऑफिस में बुलवा लिया। थानेदार ने सिपाहियों को बाहर छोड़ा औ
अन्दर आकर अब्बा जान से कहा, 'मुझे ऊपर से हुक्म मिला है कि पुलि
की गाड़ी लेकर जिसमें लेडी पुलिस भी हो, मौलाना के घर पर छापा मारो
उनके घर के सर्वेन्ट क्वार्टर में एक अग़वा-शुदा (अपहरण की हुई) लड़क
है, उसे बरामद करो। फोटोग्राफ़रों से उसकी तस्वीरें उतरवाओ और वह
अख़बारी नुमाइन्दों को सारी तफ़सील की जानकारी दो', यह कहकर उ
थानेदार ने कहा, 'मौलाना! मुझे आपकी इज़्ज़त अपनी इज़्ज़त की तर
प्यारी है, मैं जल्दी से आपके पास आया हूँ कि आप जल्दी से अपने घर क
सर्वेन्ट क्वार्टर की तलाशी ले लें और उस लड़की को बरामद करके भगा दें
मैं अब जा रहा हूँ और बस 15 मिनट के अन्दर-अन्दर मैं पुलिस की गाड़
मीडियावालों और फोटोग्राफ़रों के साथ आपके घर आऊँगा। मैं चाहता हूँ कि

ापकी और आपके बेटों की इज़्ज़त बच जाए, क्योंकि इलज़ाम आपके
ꗘसी बेटे पर लगेगा।'

अब्बा जान यह सुनकर अन्दर आए और सारी बात राज़दारी के साथ म्मा जान को बताई। कुछ सुन-गुन हम लोगों के कानों में भी पड़ गई थी। म्मा जान सर्वेन्ट क्वार्टर में गई। नौकरों ने उन्हें बातों-बातों में टाल दिया क 'नहीं, बेगम साहिबा ऐसा कैसे हो सकता है! आख़िर हमने आपका नमक ़ाया है। आपका और मियाँ जी का तो जहाँ पसीना गिरे हम अपना ख़ून हाने को तैयार हैं।'

उधर वक़्त बड़ी तेज़ी से गुज़र रहा था कि एकदम मेरे भाई हुसैन फ़ारूक़ जन्म-15 फ़रवरी 1945 ई॰, दिल्ली) और मुहम्मद फ़ारूक़ सर्वेन्ट क्वार्टर में ुस गए और जब तलाशी ली तो देखा कि हमारी खाना पकानेवाली माई की ्क रिश्तेदार लड़की वहाँ मौजूद थी। माई और उस लड़की को उसी वक़्त हाँ से निकाल बाहर किया और भगा दिया। घर के एक गेट से वे दोनों ाहर निकलीं और दूसरे गेट से पुलिस की गाड़ियाँ दाख़िल हुईं। लेडीज़ ुलिस ने अन्दर पूरे घर की तलाशी ली और जेन्टस पुलिस ने सर्वेन्ट क्वार्टर र धावा बोल दिया, लेकिन वहाँ कोई लड़की होती तो बरामद होती। यह ाक़िआ अय्यूब ख़ान साहब के ज़माने में पेश आया था।

इस मायूसी भरे दौर में यह मिसाल बड़ी उम्मीद दिलानेवाली थी कि अगर बड़े-बड़े सरकारी अफ़सर चापलूस, ख़ुशामदी और ज़मीर बेच देनेवाले हैं तो क्या हुआ। इस क़ौम में अच्छरा पुलिस स्टेशन के थानेदार जैसे ईमानदार और दूसरों की इज़्ज़त को अपनी इज़्ज़त की तरह अज़ीज़ रखनेवाले बेहतरीन इनसान भी तो मौजूद हैं। अगर कहीं इस नेक नाम अफ़सर ने अपनी तरक़्क़ी और भविष्य को ख़तरे में डालकर और अपनी सर्विस को दाँव पर लगाते हुए, वक़्त रहते अब्बा जान को ख़बरदार न किया होता तो दूसरे दिन अख़बारों में कैसी-कैसी सुर्ख़ियाँ जमाई जातीं।

इसी थानेदार ने बताया था कि 'मौलाना! आपके कुछ निजी मुलाज़िम रोज़ रात को थाने में आकर पूरे दिन की रिपोर्ट देते हैं। जितनी तंख़ाह आप उनको देते हैं, उससे कहीं ज़्यादा वे थाने से लेते हैं। याद रहे कि ये वही

मुलाज़िम थे, जो मियाँ जी के पसीने की जगह अपना ख़ून बहाने का दाव
कर रहे थे। यह जानकारी मिलने के बावजूद अब्बा जान ने घर के किस
नौकर को नहीं हटाया कि जो नए मुलाज़िम आएँगे, वे भी इन्हीं की तर
थाने में रिपोर्ट देंगे।

हम लोग इस वक़्त स्कूल की तालीम पूरी करके कॉलेज में पहुँच चुके
थे। तब राष्ट्रपति फ़ील्ड मार्शल अय्यूब ख़ान की हुकूमत अपने चरम पर थी
अब्बा जान के ख़िलाफ़ प्रोपैगंडा मुहिम ज़ोरों पर थी। अख़बारों में हैडलाइन
बनाई जाती कि मौलाना मौदूदी ग़द्दार हैं, वे पाकिस्तान के मुख़ालिफ़ थे
लाहौर के गर्ल्स कॉलेज में क़दम रखते ही किसी-न-किसी तरफ़ से ये जुमले
ज़रूर कसे जाते, 'मरदूदी-मरदूदी! एक मौदूदी सौ यहूदी! ठाह मौदूदी ठाह
वग़ैरा। बेशक हमें इन बातों से सख़्त तकलीफ़ होती थी। फिर भी जब हम
इस बात का ज़िक्र अब्बा जान से करते तो इन तकलीफ़देह बातों के जवाब
में वे अकसर यह शेअर पढ़ते थे।

दर कूए नेक नामी मारा गुज़र न दादन्द
गर तू नमी पसन्दी, तग़यीर कुन कज़ा रा
(नेक नामी की गली में तो हमें वे क़दम ही नहीं रखने देते,
अगर तुझे यह बात पसन्द नहीं है तो तक़दीर बदल दे।)

इधर हमारी अम्मा जान ने हमें यह समझा दिया था, 'अगर पढ़ना है तो
इन्हीं हालात में और इन्हीं लोगों के साथ बैठकर पढ़ो, वरना जाहिल रह
जाओगे। अपने आपको सब्र और हौसले का पहाड़ बना लो कि बड़े-बड़े
तूफ़ान आकर इससे टकराते हैं, लेकिन वह अपनी जगह नहीं छोड़ता, वहीं
खड़ा रहता है। अपने अन्दर समुद्र जैसा ज़र्फ़ (कुशादादिली) पैदा कर लो कि
बड़े-बड़े दरिया आकर इसमें गिरते हैं, वह उन्हें अपने अन्दर समो लेता है,
लेकिन कभी किनारे तोड़कर नहीं निकलता। 'बाज़ार की गाली हँसकर टाली'
का उसूल याद रखना।' साथ ही अम्मा जान ने यह भी हमें अच्छी तरह से
समझा दिया था कि गाली के जवाब में गाली कभी न देना। उनका कहना
था, 'एक चुप हज़ार जवाब' है। गन्दे पानी में ईंट फेंकोगे तो अपने कपड़ों
पर छीटें पड़ेंगे। इसलिए कभी किसी की सख़्त बात का जवाब न देना।'

बहन-भाइयों में से सिर्फ़ मुझे यह ख़ुशनसीबी हासिल है कि मैंने अब्बा जान से सीधे तौर पर पढ़ा है। मैट्रिक मैंने फ़ारिसी के साथ किया था। कॉलेज में पहुँचकर अम्मा जान ने मुझे मेन सबजेक्ट के तौर पर अरबी दिलवादी। अरबी मुझे थोड़ी बहुत इसलिए आती थी कि क़ुरआन मजीद तर्जमे के साथ पढ़ा था। इसलिए पहले साल में मैंने अपनी तालीनी ज़रूरतों के लिए अब्बा जान से अरबी पढ़ी थी। सूरत यह होती कि जिस समय दोपहर का खाना खाने के बाद, वे आराम के लिए लेट जाते तो मैं अपनी किताबें लेकर उनके पास बैठ जाती थी। तब उन्होंने मुझे अरबी ग्रामर और दूसरे मुताल्लिक सबक़ पढ़ाए। कुछ गरदानें भी याद करवाईं। इसी तरह इस्लामिक स्टडीज़ में से सूरा-33 अहज़ाब का तर्जमा और तफ़सीर भी मैंने उन्हीं से पढ़ी।

जब दोपहर या रात के वक़्त अब्बा जान खाना खाने के लिए घर के अन्दर आते थे तो लिखते-लिखते क़लम, काग़ज़ और जो कुछ लिखा होता था वह सब मेज़ पर उसी तरह छोड़ देते थे। तब स्कूल के ज़माने में मैं जल्दी से उनके ऑफ़िस में जाकर उनके काग़ज़ों को उलट-पलटकर पढ़ती थी कि वे आजकल क्या लिख रहे हैं। चूँकि याद रखने की सलाहियत अच्छी थी इसलिए एक-दो बार पढ़ने से ज़बानी याद हो जाता था, लेकिन मेरे इस काम का किसी को पता नहीं चला था। एक दिन खाना खाते हुए कोई बात छिड़ी तो मौक़े के हिसाब से मुझसे रहा न गया और मैंने अब्बा जान का लिखा हुआ एक पैराग्राफ़ उन्हीं के स्टाइल में उन्हें सुना दिया। यह सुनकर अब्बा जान तो दंग रह गए और मुझसे पूछा, 'हाए! इसकी हवा तुम्हें कैसे लगी? यह तो मैंने अभी कल रात को लिखा है।' मैंने जवाब दिया, 'मैं तो रोज़ आपके ऑफिस में जाकर आपका लिखा हुआ पढ़ती हूँ। मुझे सब मालूम है आप आजकल क्या लिख रहे हैं।' अब्बा जान हैरान और परेशान बड़ी मासूमियत से मेरी तरफ़ देखकर कह रहे थे, 'अच्छा! अच्छा!, लेकिन मुझे पता था कि अब्बा जान अन्दर से ख़ुश थे, हालाँकि ज़ाहिरी तौर पर नाराज़ी दिखा रहे थे।

इस बात के कुछ दिन बाद दादी अम्मा ने अब्बा जान ने कहा, 'ऊपर की मंज़िल में जिन्न रहता है।' अब्बा जान ने जवाब दिया, 'अम्मा बी! आप

एक जिन्न की बात कर रही हैं मैं तो कहता हूँ कि यहाँ नौ जिन्न रहते हैं और इन जिन्नों में से एक क़िस्म तो ऐसी भी है कि वह मेरे काग़ज़ों तक को छोड़ने के लिए तैयार नहीं। मेरी ग़ैर-मौजूदगी में मेरा लिखा हुआ पढ़ा जाता है और याद करके मेरे ही स्टाइल से मुझको सुनाया भी जाता है। यहाँ तो ऐसे-ऐसे जिन्न हैं, जो मेरे क़लम तक के पहरेदार बने हुए हैं। मजाल है कि ज़ेर-ज़बर की भी ग़लती कर जाएँ।'

इस वाकिए के कई साल बाद जब मैं गर्मियों की छुट्टियों में जद्दा से पाकिस्तान आई हुई थी, अम्मा जान ने मुझे एक दर्स में अपनी जगह भेज दिया। वह लाहौर में मेरा पहला दर्स था। बाद में वहाँ से अम्मा जान के पास फ़ोन आया, 'बेगम साहिबा! आपकी बेटी ने बहुत अच्छा दर्स दिया है, हमारा तो ख़याल था यह लड़की एम॰ए॰ इंग्लिश है, अंग्रेज़ी पढ़ाती है, भला यह क्या दर्स देगी! बस बेगम साहिबा ने खाना-पुरी के लिए अपनी बेटी को भेज दिया है, लेकिन हम तो हैरान रह गए। सच में क़ुरआन और हदीस की तालीम तो आपके घर की विरासत है।

जब यह बात अब्बा जान ने सुनी तो मुझे बुलाकर पूछा, 'ज़रा बताओ तो सही, तुम वहाँ क्या गड़बड़ करके आई हो?' मैंने जवाब दिया, 'आपके जो पैराग्राफ़ मैंने स्कूल के ज़माने से याद कर रखे हैं। बस वही दोहरा दिए, कुछ हदीसें और अल्लामा इक़बाल के कुछ शेअर याद हैं। बाक़ी आपके पैराग्राफ़ मदद देते हैं। अगर मैं कहीं फंस जाती हूँ तो उन्हीं को ठोंककर काम चला लेती हूँ। आपके ये पैराग्राफ़ लिखने में भी काम दे जाते हैं और दर्स में भी चल जाते हैं।'

मैं तो बोले चली आ रही थी, उधर अब्बा जान दोनों हाथों से अपना सर पकड़े सुन रहे थे और हैरान परेशान मेरी तरफ़ देखे जा रहे थे। बाद में असमा बहन ने मुझसे कहा, 'अब्बा जान से ऐसी बातें सिर्फ़ तुम कर सकती हो।'

चूँकि मैंने तफ़हीमुल-क़ुरआन का मुताला (अध्ययन) उस वक़्त किया जब वह लिखी जा रही थी, इसलिए आज भी उन हिस्सों को पढ़ते हुए महसूस होता है कि तफ़हीमुल-क़ुरआन के लिखनेवाले लिखते-लिखते क़लम

खकर बस अभी-अभी कहीं गए हैं, वापस आकर लिखना शुरू कर देंगे। ैसे वे इसी चलती फिरती दुनिया में मौजूद हों।

अब्बा जान के किरदार की एक ख़ूबी जो मुझे बहुत ज़्यादा याद आती ;, यह है और इसमें कोई और मुबालग़ा (अतिश्योक्ति) नहीं कि वे अपने च्चों की इतनी इज़्ज़त किया करते थे जितनी दूसरे लोग माँ-बाप की करते ;। आम हालात में वे हमें 'बेटी' कहा करते थे। ज़रा ग़ुस्से में होते तो 'साहबज़ादी' कहा करते, और अगर बहुत ही ज़्यादा नाराज़ होते तो फिर 'साहबज़ादी साहिबा' कहते। पुकारने का यह अन्दाज़ ही हमारे लिए एक कोड़े की मार होती थी, और हमारी कोशिश होती कि 'साहबज़ादी साहिबा' कहने की नौबत ही न आए।

गालियाँ

मेरी बेटी राबिया (जन्म-21 जनवरी 1967 ई॰, लाहौर) से अब्बा जान बहुत प्यार करते थे। यह 1970 ई॰ की बात है कि एक दिन हम उसे लेकर ख़रीदारी के लिए अनारकली बाज़ार गए तो सामने से पीपल्स पार्टी का जुलूस आ गया। जुलूस में अब्बा जान को गालियाँ दी जा रही थीं। हम यह देखकर फ़ौरन वापस घर आ गए। दोपहर को जब अब्बा जान खाना खाने घर में आए तो उनके बिलकुल बराबरवाली कुर्सी पर बैठकर बेटी राबिया ने ग़ौर से उनका चेहरा देखा और पूछा, 'नाना अब्बा! मौलाना मौदूदी आप ही हैं ना?' कहने लगे, 'हाँ! बेटी, मैं ही हूँ।'

इस पर राबिया बोली, 'नाना अब्बा! अनारकली में तो मौलाना मौदूदी को गालियाँ दी जा रही थीं।' नवासी की यह बात सुनकर अब्बा जान मानो बाग़-बाग़ हो गए और मुस्कुराकर पूछने लगे, 'अच्छा, आपने सुनी थीं?' इसपर मैंने डाँटकर राबिया को चुप कराया और अब्बा जान से कहा, 'आप ख़ुश तो ऐसे हो रहे हैं जैसे गालियाँ नहीं, बल्कि आपको कोई ख़ज़ाना मिल गया है।' मेरी यह बात सुनकर अब्बा जान एकदम संजीदा हो गए और कहने लगे, 'बेटी! मैंने तो अल्लाह के रास्ते में अभी सिर्फ़ गालियाँ ही खाई हैं! पैग़म्बरों और अल्लाह के नेक बन्दों ने तो पत्थर भी खाए हैं। ये अल्लाह की राह की गालियाँ हैं और ये पैग़म्बरों की सुन्नत है। ये हर किसी को कहाँ

नसीब होती हैं!'

एक बार एक साहब हमारे यहाँ आए। उन्होंने अब्बा जान को एव विदेशी क़लम दिया और कहा, 'यह एक तोहफ़ा है जो एक रूसी बाशिन्दे ने आपको भिजवाया है।' मालूम हुआ कि ये साहब कुछ महीने पहले ताशकन्द गए थे, वहाँ एक बाइज़्ज़त मक़ामी आदमी ने अकेले में उन्हे बताया कि 'मैं मुसलमान हूँ।' और फिर उसने वह क़लम उन्हें दिया और ख़ाहिश ज़ाहिर की कि पाकिस्तान जाकर वे इस क़लम को अब्बा जान तक पहुँचा दें।

1968 ई॰ में भुट्टू साहब (मृत्यु, अप्रैल 1979 ई॰) ने छात्रों को कॉलेजों से निकाला और सड़कों पर लाकर मुज़ाहरे करवाए। इसी तरह मज़दूरों को फ़ैक्ट्रियों से निकालकर सड़कों पर नारे लगवाए। इन हालात पर अब्बा जान ने दुखी होकर कहा कि 'एक बार छात्रों को क्लास से उठाकर सड़कों पर लाना और उनसे नारे लगवाकर मुज़ाहरे करवाना आसान है। कल जब आप चाहेंगे कि ये बच्चे दोबारा क्लासों में बैठकर पढ़ने लगें तो यह नामुमकिन है। इस जिन्न को बोतल ही में रहने दें। यह एक बार बोतल से बाहर निकल आया तो दोबारा उसे बोतल में बन्द करना नामुमकिन होगा। इसी तरह मज़दूरों को एक बार फ़ैक्ट्रियों और कारखानों से निकालकर सड़कों पर नारे लगवाना और मुज़ाहरे करवाना आसान है। कल जब आप चाहेंगे कि यही मज़दूर फिर कारखानों में जाएँ और काम करें तो यह नामुमकिन हो जाएगा। अब्बा जान ने अपील की कि खुदा के लिए! क़ौम के मिज़ाज में हुल्लड़बाज़ी को मत दाख़िल कीजिए। इससे तालीम और दस्तकारी एवं कारीगरी का जनाज़ा निकल जाएगा। लेकिन उसी ज़माने में क़ौम के मिज़ाज में ऐसी हुल्लड़बाज़ी दाख़िल हुई, जो आज हर तरफ़ नज़र आ रही है।

अब्बा जान एक हमागीर शख़सियत (चहुमुखी प्रतिभा के धनी इनसान) थे। उन्होंने इतना ज़्यादा संजीदा काम किया जो दूसरे लोगों के नज़दीक रूखा और बोझल होता। मगर वे अपनी ज़िन्दगी में बहुत ख़ुशमिज़ाज शख़सियत के मालिक थे। इन तमाम पहलुओं से मेरे आइडियल मेरे अब्बा जान थे।

हमने घर में अब्बा जान को दुख और सुख हर हाल में देखा है। लेकिन ीन मौक़े ऐसे हैं, जब अब्बा जान पर दुख की सख़्ती को पूरी तरह खुले तौर र देखा।

- अगस्त 1947 ई॰ के बाद वह वक़्त कि जब बेसहारा लुटी-पिटी मुसलमान औरतों के हालात उन्होंने खुद उन्हीं औरतों की ज़बान से सुने और ऐसी मजबूर और मज़लूम लड़कियों की हालत उन्होंने ख़ुद अपनी आँखों से देखी।
- दूसरा मौक़ा वह था, जब (25 अगस्त) 1966 ई॰ में सैयद क़ुतुब (रह॰) को मिस्र के राष्ट्रपति नासिर (मृत्यु- सितम्बर 1970 ई॰) ने फाँसी दी थी।
- तीसरा मौक़ा था, दिसम्बर 1971 ई॰ में ढाका के पतन का। इस तीसरी घटना से अब्बा जान के दिल पर क्या गुज़री? इसका अन्दाज़ा इस बात से लगाया जा सकता है कि उन्हें दिल का पहला दौरा इसी हादसे के कुछ दिन बाद पड़ा था। वे कहते थे, 'ढाका का पतन एक मुल्क का पतन नहीं, बल्कि एक उम्मत और एक नज़रिए का पतन है। मशरिक़ी पाकिस्तान कभी अलग न होता, मगर ऐसा समझ लीजिए कि मग़रिबी पाकिस्तान के हुक्मुरान तबक़े ने उसे धक्के दे-देकर अलग किया है।

फ़रवरी 1974 ई॰ में लाहौर में इस्लामी मुल्कों के नेताओं की कान्फ्रेंस हुई तो सऊदी अरब के बादशाह फ़ैसल-बिन-अब्दुल-अज़ीज़ (मृत्यु-25 मार्च 1975 ई॰) ने ख़ास तौर पर अब्बा जान के बारे में पूछा। इसी लिए आख़िरी वक़्त में भुट्टू साहब ने उन्हें कान्फ्रेंस में शामिल होने का दावतनामा भेजा। कान्फ्रेंस शुरू हुई और अब्बा जान अभी कान्फ्रेंस हॉल (पंजाब असेम्बली हॉल) की सीढ़ियों पर क़दम रख ही रहे थे तो उन्हें मालूम हुआ कि इस कान्फ्रेंस में शैख़ मुजीबुर्रहमान के सामने भुट्टू साहब बंगलादेश को तसलीम करने का एलान करनेवाले हैं। यह सुनना था कि उन्हीं क़दमों पर अब्बा जान यह कहते हुए वापस घर चले आए कि 'जिस शैख़ मुजीब ने पाकिस्तान तोड़ने की साज़िश में एक मोहरे के तौर पर काम किया है, उसके साथ बैठना

मेरे लिए मुमकिन नहीं है और मैं यह भी बरदाश्त नहीं कर सकता कि मेरे सामने बंग्लादेश मंज़ूर करने के लिए हाथ उठें।'

तफ़हीमुल-क़ुरआन का पूरा होना

7 जून 1972 ई॰ को तफ़हीमुल-क़ुरआन का आख़िरी और छटा हिस्सा पूरा हुआ। तफ़हीमुल-क़ुरआन के पूरा होने के मौक़े पर जून 1972 ई॰ के आख़िरी दिनों में फ्लैटीज़ होटल लाहौर में एक प्रोग्राम रखा गया। जिसमें ए॰ के॰ बरोही साहब (मृत्यु- 13 सितम्बर 1987 ई॰) ने कहा, 'मौलाना मौदूदी की तफ़हीमुल-क़ुरआन और उनके लिट्रेचर ने मग़रिबी तहज़ीब से मुतास्सिर लाखों नौजवानों को अस्ल इस्लाम की रूह से आशना कराया है और उनकी ज़िन्दगियों में इंक़िलाब पैदा किया है।' बरोही साहब ने यह भी कहा, 'इनसान की सबसे क़ीमती चीज़ उसकी सीरत (जीवन-चरित्र) और किरदार है और अगर किसी आदमी की सीरत व किरदार को बदलना और उसमें कोई बड़ा बदलाव करना मुमकिन है, तो जो इनसान यह काम अंजाम देता है वह उस आदमी की ज़िन्दगी को बनाने व संवारनेवाला होता है, सीरत बनानेवाला होता है और इस नुक्ते-नज़र से मेरी राय में आज पाकिस्तान के सबसे महान इनसान मौलाना मौदूदी हैं। मैं इस बात की तसदीक़ करता हूँ कि अगर आज यह सवाल उठाया जाए कि कौन-सा आदमी है जिसने पाकिस्तान के लोगों के किरदार को सबसे ज़्यादा सकारात्मक रूप से मुतास्सिर किया तो मेरा जवाब होगा कि वे मौलाना मौदूदी हैं। अगर क़ियामत के दिन मुझसे अल्लाह ने गवाही माँगी तो मैं उस वक़्त भी यही गवाही दूँगा, जो अब दे रहा हूँ।' प्रोग्राम में शामिल दूसरे लोगों ने भी अब्बा जान की दीनी ख़िदमतों पर मुहब्बत और अक़ीदत के फूल न्योछावर (अर्पित) किए और जब अब्बा जान की बारी आई तो उन्होंने बहुत ही आजिज़ी (विनम्रता) व ख़ाकसारी के साथ कहा, 'अगर दुनियाभर में किसी काम को क़बूल किया जाए और अल्लाह के यहाँ वह क़बूल न हो तो कुछ हासिल नहीं, लेकिन दुनिया में अगर क़बूल न किया जाए और अल्लाह के यहाँ वह क़बूल हो जाए तो यही अस्ल कामयाबी है। मैं दुआ करता हूँ और आप भी दुआ करें कि अल्लाह मेरी इस छोटी-सी ख़िदमत को क़बूल फ़रमाए

ौर अगर यह किताब अल्लाह के किसी एक बन्दे की हिदायत का भी ारिआ बने तो उसे मेरी मग़फ़िरत का ज़रिआ बनाए।'

फिर फ़रमाया, 'बन्दा अपने रब के सामने आजिज़ी के साथ कुछ पेज लेए खड़ा है कि यह तफ़सीर, हक़ को समझने के लिए है और यह ज़िन्दगी ;क़ की गवाही के सिवा किसी और काम के लिए वक़्फ़ नहीं रही और यह वुदा ही है, जो अपने बन्दों को इसकी तौफ़ीक़ देता है।'

अब्बा जान ने नफ़्स का तज़किया (आत्मशुद्धि), हक़ की गवाही और ीन को क़ायम करने की मुकम्मल कोशिशों के लिए चौतरफ़ा लड़ाई लड़ी, जेसमें—

- ✶ एक तरफ़ हुक्मुरान तबक़ा था, जो पूरे प्रशासन को उनके ख़िलाफ़ इस्तेमाल कर रहा था।
- ✶ दूसरी तरफ़ पूँजीवादी और जागीरदारी निज़ाम अपनी दौलत और ताक़त के साथ उनके मुक़ाबले पर था।
- ✶ तीसरी तरफ़ उन्हें सोशलिस्टों और कम्यूनिस्टों के अख़लाक़ से गिरे प्रोपैगंडे का मुक़ाबला करना पड़ा।
- ✶ चौथी तरफ़ मज़हबी पेशवाओं का तबक़ा था जिनको अब्बा जान के मिशन की कामयाबी के नतीजे में अपना मज़हबी कारोबार डावाँडोल होता दिखाई दे रहा था।
- ✶ पाँचवी तरफ़ क़ादियानी थे, जो बेहद घटिया और नीच प्रोपैगंडे पर उतर आए थे।

✶ छटी तरफ़ मुस्तशरिक़ीन (प्राच्यविद) और उनके समर्थक हदीस का इनकार करनेवाले लोगों का गरोह था, जिन्होंने इस्लाम, क़ुरआन और क़ुरआन लानेवाले (पैग़म्बर सल्ल॰) के बारे में मुख़ालिफ़ प्रोपैगंडा करने में कोई कसर नहीं उठा रखी थी। इस तरह यह लड़ाई बहुत-से मोर्चों पर जारी रही। कमज़ोर सेहत और लगातार बीमारी के बावजूद, उन्होंने अकेले ही वह काम किया जो कई इदारों और कई जमाअतों के करने का काम था।

वे एक ही साथ एक बड़े आलिमे-दीन भी थे और रिसर्च स्कॉलर भी मुफ़स्सिर भी थे और मुफ़क्क़िर (विचारक) भी, मुअर्रिख़ (इतिहासकार) भी थे और मुबल्लिग़ और ख़तीब (प्रचारक और वक्ता) भी, एक लीडर भी थे और पत्रकार व साहित्यकार भी और इस सबके साथ-साथ एक बेहतरीन सियासतदाँ भी।

1977 ई॰ में पीपल्स पार्टी की हुकूमत ने आम चुनावों (7 मार्च) में धाँधली की, जिसके ख़िलाफ़, 'पाकिस्तानी क़ौमी इत्तिहाद' में शामिल पार्टियों ने मार्च से जुलाई के दौरान में भुट्टू हुकूमत को हटाने के लिए पूरे मुल्क में मुहिम चलाई। अब्बा जान ने 2 अप्रैल को प्रधानमंत्री भुट्टू साहब के सामने तजवीज़ (प्रस्ताव) रखी कि 'वे उन विवादित चुनावों को रद्द करके दोबारा चुनाव कराने के लिए तैयार हो जाएँ।' लेकिन उन्होंने इस गुमान में कि 'मेरी कुर्सी मज़बूत है' जनता पर लाठियाँ और गोलियाँ बरसाना शुरू कर दीं। आख़िरकार अप्रैल के बीच में भुट्टू साहब अब्बा जान से मिलने के लिए हमारे घर अच्छरा आए। इस मौक़े पर बहुत-से लोग इकट्ठा हो गए और उन्होंने भुट्टू साहब के ख़िलाफ़ नारेबाज़ी शुरू कर दी, जिसपर अब्बा जान ने लोगों से अपील की कि 'भुट्टू साहब मेरे मेहमान हैं, उनकी इज़्ज़त मेरी इज़्ज़त है इसलिए यह नारेबाज़ी बन्द की जाए।' मुलाक़ात के दौरान वे कहने लगे, 'मुझे आपपर पूरा भरोसा है। आपको सादा काग़ज़ पर दस्तख़त करके देने को तैयार हूँ, जो शर्तें चाहें लगा दें, मुझे मंज़ूर है।'

अब्बा जान का जवाब था, 'आप इस्तीफ़ा लिख दें, क्योंकि आप इतने आगे जा चुके हैं कि इस्तीफ़े से कम पर क़ौम मुत्मइन नहीं हो सकती। फिर साफ़-सुथरे चुनावों में आप कामयाब होकर दोबारा आ जाएँ, लेकिन मौजूदा हालत में इसके अलावा कोई हल नहीं है।'

45 मिनट की इस गुफ़्तगू में ज़्यादातर भुट्टू साहब ही बोलते रहे। कभी कहा कि अफ़ग़ानिस्तान के हालात ऐसे हैं, भारत में यह हो रहा है, बलूचिस्तान में बेचैनी फैली हुई है, ईरान के हालात ख़राब हो सकते हैं, ऐसे हालात में क़ौम को मेरी ज़रूरत है।

यह कहकर भुट्टू साहब ने फिर पूछा, 'आप बताएँ कि मैं क्या करूँ?'

ब्बा जान का जवाब था, 'इन तमाम हालात को सामने रखते हुए भी यही ़रूरी है कि आप इस्तीफ़ा दें, फिर ग़ैर-जानिबदाराना (निष्पक्ष) चुनाव राएँ। अगर आपको कामयाबी मिले तो हुकूमत में आएँ। इसी से आपकी कूमत का अख़लाक़ी जवाज़ पैदा होगा, इसी में मुल्क और क़ौम के फ़ायदे शीदा हैं और आप भी इसी से मज़बूत हो सकते हैं। आपके बयान किए ़ सारे अन्दरूनी और बाहरी ख़तरों से निपटने का यही एक मात्र रास्ता ।' मगर भुट्टू साहब इस तरफ़ आते ही नहीं थे।

फिर उन्होंने मुल्क और क़ौम के लिए अपनी सेवाएँ गिनाना शुरू कर दीं अब्बा जान ने कहा, 'आपकी सेवाओं से इनकार नहीं है, लेकिन जो चीज़ ात है, उसकी भरपाई सेवाएँ गिनाने से मुमकिन नहीं है। मैं नहीं चाहता क़ौम किसी बड़ी तबाही में पड़ जाए। इसी लिए मैंने सही समझा कि पसे मिलकर यह बात कह दूँ। मुझे ख़तरा है कि जो लोग आज सड़कों आपके इस्तीफ़े की बात कर रहे हैं, आनेवाले कल कहीं इससे आगे की ग न शुरू कर दें और अगर यह हंगामा बढ़ गया तो फिर बद-किस्मती से र्शल लॉ के लागू हो जाने के ख़तरे से भी इनकार नहीं किया जा सकता, र मार्शल लॉ अपने-आपमें तबाही की शुरुआत होगी।

इस मुलाक़ात के कुछ ही देर बाद, अब्बा जान ने प्रेस कान्फ्रेंस में इस तगू की तफ़सील बयान की। मगर सिर्फ़ सात दिन बाद भुट्टू साहब ने द लाहौर, कराँची और हैदराबाद में मार्शल लॉ लागू करके फ़ौज का रास्ता फ़ कर दिया।

अब्बा जान की आदत थी कि वे 'बड़े लोगों' के रोब-दाब में बिलकुल ों आते थे, बल्कि हमें नसीहत किया करते थे, 'आदमी को इनसान की सियत से देखना चाहिए। उसके घर, उसकी सवारी या उसके लिबास को खकर उसके बड़े या छोटे होने का फ़ैसला नहीं करना चाहिए, और ये जो -बड़े शानदार घर होते हैं, ये मुर्दाख़ाने होते हैं। यह भी ज़रूरी नहीं कि दमी किसी बड़े घर में रहता हो उसका किरदार भी ऊँचा हो।'

एक बार सऊदी अरब के बादशाह फ़ैसल-बिन-अब्दुल-अज़ीज़ ने अब्बा न को पेशकश की थी, 'आप मेरे सलाहकार बन जाइए और सऊदी शहरी

होना क़बूल कर लीजिए।' अब्बा जान ने जवाब में कहा था, 'मैं दीनी जज़
और अपनी पाकिस्तानी नागरिकता के साथ यहाँ लाहौर में बैठा हुआ आप
हर वक़्त सलाहकार हूँ। आप जब चाहें अपने सफ़ीर के ज़रिए से सीधे तं
पर मुझसे मश्वरा कर सकते हैं। जो बेहतर राय होगी वह दूँगा। हाँ अ
आपकी प्रजा बनकर आपकी नौकरी क़बूल कर ली तो फिर शायद स
मश्वरा नहीं दे सकूँगा।

नाज़ुक मिज़ाज शाहाँ, ताबे-सुखन नदारन्द
(शासक किसी आपत्ति और एतराज़ को बरदाश्त नहीं करते।)

इसी तरह 1974 ई॰ की एक शाम, अब्बा जान के पास जॉर्डन
बादशाह शाह हुसैन-बिन-तलाल (मृत्यु- 2000 ई॰) का फोन आया था। ज
हमने पूछा कि शाह हुसैन ने आपसे क्या बात की थी? तो अब्बा जान
बड़ी बेपरवाही से कहा था, 'ऐसे लोग इस क़ाबिल नहीं होते कि उन्हें ज़्या
अहमियत दी जाए। ये लोग बातें तो बड़ी लच्छेदार करते हैं, लेकिन यह उ
वक़्त तक होता है, जब तक उनके हितों पर कोई चोट नहीं लगती, अ
अगर कहीं उनके या उनकी औलाद के हितों पर ज़रा-सी आँच आई तो
लोग साबुन के झाग की तरह बैठ जाते हैं।' फिर कुछ सोचकर कहा, 'अ
क़ीमती इनसान वे होते हैं, जो अल्लाह के दीन के वफ़ादार हों और उस
लिए हर क़ुरबानी देने के लिए तैयार हों। जो आपके मुँह पर आप
आलोचना कर सकें और पीठ पीछे आपका बचाव करें, ऐसे लोग ही क़द्रदा
के हक़दार होते हैं।'

जब मैं कुल्लियतुत्तरबिय्यति लिल-बनात (सऊदी महिला कॉलेज) रिय
में पढ़ाती थी तो एक सऊदी लेडी लैक्चरर ने मुझे जताया, 'मैं सऊदी श
हूँ और बाहर से आए हुए ग़ैर-सऊदी (अजनबी) मेरा मुक़ाबला नहीं क
सकते।' मैंने स्टाफ मीटिंग ही में उनकी जानकारी के लिए कहा, 'आप
शाह फ़ैसल ने मेरे अब्बा को सऊदी शहरियत के साथ अपने सलाहकार
पद भी पेश किया था, मगर मेरे अब्बा ने यह पेशकश क़बूल नहीं की थ
यह हक़ीक़त है कि वे पद जिनके पीछे लोग भागे फिरते हैं, अब्बा जान
क़दमों में पड़े हुए थे, लेकिन उन्होंने कभी क़बूल नहीं किए।' इस तरह

ा सऊदी ख़ातून पर यह साफ़ कर दिया कि मैं उस आदमी की बेटी हूँ, से पदों और ओहदों से कोई दिलचस्पी नहीं थी। याद रहे कि जब यह बात ी गई थी उस वक़्त शाह फ़ैसल ज़िन्दा थे।

इख़वानुल-मुस्लिमून के दूसरे मुर्शिदे-आम शैख़ हसन अल-हुज़ैबी (मृत्यु-73 ई॰) की बेटी जो कॉलेज के बॉटेनी डिपार्टमेन्ट की हैड थीं, मीटिंग के द ख़ास तौर पर मेरे पास आईं और कहा, 'तुम हक़ीक़त में इतने महान न की बेटी हो।' उन्होंने मुझे हज़रत अली (रज़ि॰) का क़ौल सुनाया, नेया की हक़ीक़त यह है कि तुम उसको लात मारो तो यह तुम्हारे क़दमों आकर गिरेगी।' इस घटना के बाद जब तक मैं सऊदी अरब में रही, पर ग़ैर-सऊदी होने का ताना देने की किसी को हिम्मत न हुई।

शाह फ़ैसल मरहूम को अब्बा जान ने एक और मशवरा भी दिया था। सोचती हूँ कि अगर शाह फ़ैसल उसपर अमल कर लेते तो आज इस्लामी या के हालात कुछ अलग ही होते।

अब्बा जान ने शाह फ़ैसल से आमने-सामने बात करते हुए कहा था, स तरह अमरीका ने डॉलर के बल पर सारी दुनिया के बेहतरीन दिमाग़ चकर अपने मुल्क में जमा कर लिए हैं, और वह मुल्क जो सिर्फ़ पाँच सौ ा पहले खोजा गया था, उसे बेमिसाल तरक़्क़ी दी है, उसी तरह आप ाल के बल पर, जिनकी आपके पास कोई कमी नहीं है, और न ही ज़मीन आपके पास कमी है, इस्लामी दुनिया के सबसे बेहतरीन दिमाग़ खींचकर ने मुल्क में जमा कर सकते हैं। मगर शर्त यह है कि ऐसे ज़हीन डॉक्टरों, सदानों, समाजी इल्म के माहिरों और बड़े-बड़े रिसर्च स्कॉलरों को आप दी अरब की शहरियत (नागरिकता) और बुनियादी अधिकार भी ाए। फिर आप देखिएगा कि सऊदी अरब को समाजी, इल्मी, कारोबारी मआशी मैदानों, हिफ़ाज़ती मामलों और साईंस व टेक्नोलोजी में कितनी क़ी नसीब होती है और यह तरक़्क़ी सिर्फ़ सऊदी अरब की तरक़्क़ी नहीं ा बल्कि पूरी इस्लामी दुनिया की तरक़्क़ी होगी।' जवाब में शाह फ़ैसल म ने फ़रमाया, 'मैं रियाल के बल पर सारी इस्लामी दुनिया के बेहतरीन ाग़ तो सऊदी अरब में जमा कर लूँ और उन्हें शहरियत के साथ

अधिकार भी दे दूँ, लेकिन फिर मेरे मुल्क के बद्दू, बकरियाँ लेकर और ऊँ
पर सवार होकर वापस तम्बुओं में चले जाएँगे और रेगिस्तान में ऐसे गुम हे
कि उनका निशान भी किसी को नहीं मिलेगा।

अफ़सोस कि शाह फ़ैसल मरहूम के बाद के ज़माने में भी खाड़ी देशों
हुक्मरानों ने ज़्यादा सूझ-बूझ से काम नहीं लिया। नतीजा यह हुआ कि ते
और रियाल की सारी दौलत, बड़ी-बड़ी मंहगी गाड़ियों, महलों एवं इमार
और मग़रिबी बैंकों में बरबाद होकर रह गई। हिफ़ाज़त का ज़िम्मेद
अमरीका और रोज़गार की बाग-डोर मग़रिबी माहिरों के हाथ में है।

अब्बा जान मरहूम अकसर कहा करते थे कि दीन उस वक़्त तक क़ाय
नहीं हो सकता जब तक कि यह उम्मत, सहाबा (रज़ि॰) की वह ख़ूबी अ
अन्दर पैदा न कर ले, जिसका ज़िक्र अल्लाह ने क़ुरआन मजीद में फ़रमा
है और जिसकी पेशीनगोई तौरात में भी आई है, यानी–

> (और जो लोग नबी सल्ल॰ के साथ हैं, वे) इनकार करनेवालों
> पर सख़्त और आपस में रहम करनेवाले हैं। तुम जब देखोगे,
> उन्हें रूकूअ, सजदे और अल्लाह के फ़ज़्ल और उसकी
> ख़ुशनूदी हासिल करने की कोशिशों में लगा हुआ पाओगे।
> सजदों के असर उनके चेहरों पर मौजूद हैं, जिनसे वे अलग
> पहचाने जाते हैं। (क़ुरआन, सूरा-49 फ़तूह, आयत-29)

मुस्लिम मुल्कों के लगभग सभी लीडरों का हाल यह है कि हक़
इनकार करनेवालों को देखते ही ख़ुशी से उनकी बाहें खिल जाती हैं
उनके आगे-पीछे बिछे चले जाते हैं और जब मुसलमानों से मुलाक़ात ह
है तो त्योरियाँ चढ़ा लेते हैं।

एक जगह अब्बा जान ने लिखा है, 'ख़ुदा की शरीअत बहादुर शेरों
लिए उतरी है, जो हवा का रूख़ मोड़ देने की हिम्मत रखते हों– जो अल
के रंग को दुनिया के हर रंग से ज़्यादा महबूब रखते हों और उसी रं
दुनिया को रंग देने का हौसला रखते हों– मुसलमान जिसका नाम है
दरिया के बहाव पर बहने के लिए पैदा ही नहीं किया गया है। उसके

रने का तो मक़सद ही यह है कि ज़िन्दगी के दरिया को उस रास्ते पर ले
ए जो उसके ईमान और अक़ीदे के मुताबिक़ सीधा रास्ता है।

लाहौर आने के बाद एक बार मैंने अब्बा जान से शिकायत की थी,
ऊदी अरब में अंग्रेज़ी का सिलेबस बहुत लचर व बेकार है, मिस्री और
केस्तानी टीचर्स तो और ज़्यादा नमक-मिर्च लगाकर उसे अश्लील बना देते
' इसपर अब्बा जान ने उस्ताद के मक़ाम और ख़ास तौर पर एक तहरीकी
ताद की ज़िम्मेदारियों के बारे में मुझको हिदायत करते हुए कहा, 'एक
लेबस वह होता है जो किताबों में लिखा होता है और एक वह होता है,
उस्ताद के ज़ेहन में होता है। अस्ल अहमियत उस पाठयक्रम की है, जो
ताद के ज़ेहन में होता है। अपने दीन से लगन रखनेवाला उस्ताद तो गीता
भी क़ुरआन पढ़ा सकता है।' फिर कहने लगे, 'मजबूरी में मिलनेवाला
ग़्या सिलेबस भी अगर सही तरीक़े के साथ पढ़ाया जाए तो वह छात्रों में
ार की वजह बन सकता है।'

़ ख़ाब की ताबीर

1978 ई॰ में, मैं जद्दा से गर्मियों की छुट्टियों में लाहौर आई हुई थी
एक अजीब मामला पेश आया। हुआ यह कि एक दिन मग़रिब के बाद
क़स्तान एयर फोर्स के दो स्क्वेडन लीडर सरगोधा से अब्बा जान से
ने आए। अब्बा जान ऑफिस में बैठे काम कर रहे थे, वहीं उन्हें बुलवा
ा। उनमें से एक साहब जो देखने में बड़े बेचैन नज़र आ रहे थे कहने
, 'मौलाना! मैंने एक ख़ाब देखा है और जब से देखा है मैं इतना ज़्यादा
न और परेशान हूँ कि न मुझे नींद आती है, न भूख लगती है और न
केसी काम में मन लगता है। वह ख़ाब यह है कि मैं मदीना गया हूँ, तो
ता हूँ कि मदीना तो पूरे-का-पूरा, बमबारी से तबाह हो चुका है। न
जद है, न गुम्बदे-ख़िज़रा है, न कोई घर और इमारत सलामत है,
से-ईंट बज चुकी है। जब मैं उस जगह आता हूँ जहाँ नबी (सल्ल॰) की
रक क़ब्र है तो देखता हूँ कि नबी (सल्ल॰) कच्ची क़ब्र के बाहर खड़े
ज़ पढ़ रहे हैं। कहीं पास ही से बहुत-से लोगों की बातें करने की आवाज़
ो है। मैं उधर देखता हूँ तो एक तहख़ाने में सीढ़ियाँ उतरती नज़र आती

हैं। मैं फ़ौरन नीचे तहख़ाने में चला जाता हूँ। अभी आधी सीढ़ियाँ ही उत
हूँ तो देखता हूँ कि छ, सात यहूदी सिर्फ़ जाँगिए पहने बड़े-बड़े छुरे हाथों
लिए इनसानों की लाशों के टुकड़े कर-करके ढेर लगा रहे हैं और दीवारों
अनगिनत इनसानी लाशें लटकी हुई हैं (यानी मदीनावालों की)। मैं यह मं
देखकर उल्टे पाँव ऊपर की तरफ़ भागता हूँ कि ये तो मेरे भी टुकड़े
डालेंगे। ऊपर पहुँचकर देखता हूँ कि नबी (सल्ल०) नमाज़ पूरी करके सल
फेर रहे हैं। सलाम फेरकर मेरी तरफ़ देखकर आप (सल्ल०) फ़रमाते हैं, 'फ़ि
न करो, यह गोश्त बिकेगा नहीं।' और फिर फ़ौरन ही मेरी आँख खुल ग
बस मौलाना! जब से मैंने यह ख़ाब देखा है, हर दिन मेरी बेचैनी बढ़ती
रही है? आप बताइए, इस ख़ाब की ताबीर क्या है?'

हालाँकि अब्बा जान ख़ाबों की दुनिया से ताल्लुक़ नहीं रखते थे और
ख़ाबों की ताबीर से दिलचस्पी रखते थे। वे हक़ीक़त की दुनिया में दर्ल
और उसूलों को ईमान के तहत लाकर ज़िन्दगी बसर करने की तरफ़ बु
थे। लेकिन इसके बावजूद अब्बा जान यह ख़ाब सुनकर खुद हैरान होते
रहे थे कि ऐसा ख़ाब तो बड़े-बड़े वलियों को भी देखना नसीब नहीं हो
मगर यह इस दाढ़ी मुंडे नौजवान हवाबाज़ को नज़र आया है। किसी सू
किसी फ़क़ीह और किसी जुब्बा व दस्तारवाले को नहीं, बल्कि सितारों
कमन्द डालनेवाले एयर फोर्स के मुजाहिद को दिखाई दिया है, जिसका
मतलब यह है कि आनेवाले वक़्त में ख़ानकाहों और हुजरों में बसनेवाले
बजाय, रस्मे-शब्बीरी अदा करनेवाले ऐसे नौजवान ही मुस्लिम उम्मत
अगुवाई करेंगे और यही लोग मक्का-मदीना की हिफ़ाज़त की ज़िम्मे
निभाएँगे।

अब्बा जान ने उन नौजवान जंगी हवाबाज़ों से कहा, 'अल्लाह के र
(सल्ल०) की एक हदीस जिसे हज़रत अबू-हुरैरा रज़ि० (मृत्यु-678 ई
रिवायत की है—

> "जब जंगों-पर-जंगें होंगी, तो अल्लाह ग़ैर-अरब क़ौमों में से
> एक क़ौम को उठाकर खड़ा करेगा। वे शहसवारी और हथियारों
> में उनसे बेहतर होंगे। उनके ज़रिए से अल्लाह अपने दीन की

मदद करेगा।" (हदीसः मिशकात)

फिर कहा, 'यह ख़ाब उस हदीस की तरफ़ भी इशारा कर रहा है जिसे रत अब्दुल्लाह-बिन-अम्र रज़ि॰ (मृत्यु-692 ई॰) ने रिवायत किया है कि लाह के रसूल (सल्ल॰) ने फ़रमाया–

'(आख़िर ज़माने में) ऐसे लोग आएँगे जो परिंदों की तरह तेज़ रफ़तार : दरिंदों की तरह ज़ालिम होंगे।' यानी आज हमें इसका यही मतलब झ में आता है कि जंगी हवाई जहाज़ों पर सवार होकर अपने मुल्क से ो और बड़ी बेरहमी से अपने दुश्मनों के बच्चों, बूढ़ों, औरतों और दूसरे ावरों को तबाह व बरबाद करते जाएँगे, उनके हाथों में न किसी की जान ाल महफ़ूज़ होगी और न इज़्ज़त व आबरू।'

तीसरी हदीस यह है कि नबी (सल्ल॰) ने हज़रत अबू-ज़र ग़िफ़ारी (रज़ि॰) ु-652 ई॰) को मुख़ातब करते हुए फ़रमाया–

"ऐ अबू-ज़र! जिस वक़्त मदीना में ऐसी भूख होगी कि तू अपने बिस्तर से खड़ा होकर मस्जिद तक नहीं जा सकेगा, मगर यह भूख तुझको परेशानी में डाल देगी। उस वक़्त तेरा क्या हाल होगा जब मदीना में इतना क़त्ले-आम होगा कि ख़ून चिकने पहाड़ को ढाँप लेगा।"

इसी तरह दज्जालवाली हदीस सुनाकर कहा, 'आपका ख़ाब इस बात की भी इशारा करता है कि भविष्य में होनेवाली सलीब व हिलाल (ईसाइयों मुसलमानों के बीच) की जंगों में एयर फोर्स फ़ैसलाकुन किरदार अदा ा। इसी लिए अल्लाह ने यह ख़ाब एक जंगी पायलेट को दिखाया है। ाए यह वक़्त अपने जहाज़ के कॉक पिट में अज़ान देने का है। आपका आपको पुकार रहा है, मुस्लिम उम्मत और मक्का व मदीना की ज़त अब आपकी ज़िम्मेदारी है। एक हदीस के मुताबिक़ हज़रत ईसा हे॰) के आने के बाद इन्हीं इलाक़ों से फ़ौज उनकी मदद को पहुँचेगी, र-अरब होंगे और हथियारों व जंगी मामलों में अरबों से ज़्यादा बेहतर याद रखिए, आपकी सबसे बुनियादी वफ़ादारी अल्लाह और रसूल

(सल्ल॰) से है, उसके बाद मक्का-मदीना से है और उसके बाद अपने मु
से। आप इन वफ़ादारियों को एक साथ निभाने के लिए अल्लाह अ
क़ुरआन से ताल्लुक़ जोड़ें और अल्लाह ही से मदद की दुआ करते रहा क

ख़ाब की यह ताबीर सुनने के बाद जब वे पायलेट पुर सुकून होकर ज
के लिए उठे तो बीमारी और सख़्त तकलीफ़ के बावजूद, अब्बा जान ने र
होकर उनसे हाथ मिलाया और उन्हें अपने कमरे के दरवाज़े तक विदा क
आए और कहा, 'चूँकि आपने ख़ाब में नबी (सल्ल॰) को देखा है, इसी
आप भी एहतिराम के लायक़ हैं। अब आप अपनी जो बेचैनी मुझे देकर
रहे हैं, न जाने मैं कब तक इस हालत में रहूँगा!'

उस दिन जब अब्बा जान रात को खाना खाने घर के अन्दर आए
उनके चेहरे पर रोज़मर्रा के ख़िलाफ़ सख़्त परेशानी व बेचैनी के आसार न
आ रहे थे। उन्होंने जब यह ख़ाब और इसके बारे में अपना ख़याल ब
किया तो खुद हम भयभीत होकर रह गए। तब मेरे ज़ेहन में अल्ल
इक़बाल के ये शेअर ताज़ा हो गए। जिनका मतलब यह है—

> 'हालाँकि तू बेनियाज़ है, लेकिन चाहता है कि तेरी तौहीद की गवाही तेरे आशिक़ अपने ख़ून से दें। बन्दगी का मक़ाम और है, आशिक़ी का मक़ाम और है, बन्दगी के ऐतिबार से फ़रिश्ते सबसे आगे हैं। ऐ अल्लाह! तू अपनी नूरी मख़लूक़ से तो सिर्फ़ सजदा चाहता है, लेकिन ख़ाक से बने इनसान से तू इससे कहीं बढ़कर चाहता है।'

मेरा दिल गवाही देता है कि वह स्टेज तैयार हो चुका है, जिसमें द
को निकलना है और हज़रत ईसा (अलैहि॰) को उतरना है। जैसा कि
खुतबे में रसूल (सल्ल॰) ने फ़रमाया—

> "जबसे अल्लाह ने दुनिया बनाई और इनसान को पैदा किया है, तब से ज़मीन पर कोई फ़ितना दज्जाल के फ़ितने से बड़ा नहीं..........वह शाम (सीरिया) और ईराक़ के बीचवाले इलाक़े से निकलेगा और बहुत तेज़ चलता हुआ चारों तरफ़ फ़साद फैला देगा। दाएँ-बाएँ सब जगह पर आएगा। बस ऐ खुदा के

बन्दो! जमे रहना। सुनो उसके फ़ितनों में एक यह भी है कि उसके साथ जन्नत और दोज़ख़ होगी। अस्ल में उसकी दोज़ख़, जन्नत है और जन्नत, दोज़ख़ है। अगर तुममें से किसी को ऐसा मौक़ा पेश आ जाए कि वह उसे अपनी जहन्नम में डालना चाहे तो वह अल्लाह से दुआ करके सूरा-18 कहूफ़ के शुरू की दस आयतें पढ़ ले तो वह आग उसपर ठंडक और सलामती हो जाएगी, जैसा कि अल्लाह के दोस्त हज़रत इबराहीम (अलैहि॰) पर हो गई थी।" (हदीस : मिशकात)

मैंने जब अब्बा जान के बारे में अपनी यादों को ताज़ा किया तो उस ब की अहमियत और ज़्यादा साफ़ होकर सामने आई। आज हम जिस से गुज़र रहे हैं, उसमें यह ख़ाब खुद अपना मतलब समझा रहा है। बुल व कंधार की बरबादी, बग़दाद व बसरा पर थोपी जानेवाली तबाही, स्तीन में ख़ून की होली और गवान्तानामोबे और अबू-ग़रीब की जेलों में वाले ज़ुल्म, चेचनिया और बोसनिया में मुसलमानों पर ज़ुल्म की भयानक ालें देखकर किसी ग़लतफ़हमी की भला कहाँ गुंजाइश बाक़ी रह जाती है ....एक तरफ़ रसूल (सल्ल॰) के पैरोकारों की यह दर्दनाक कहानी और ी तरफ़ उम्मीद की ख़ुशख़बरी और अमल पर उभारना, इसमें हमारे लिए क़ मौजूद है।

ग़ैर-अरब इलाक़ों से इस्लाम को मिलनेवाली जिस ताक़त का ज़िक्र अब्बा ने उन पायलटों से किया था, मिस्र के मशहूर अख़बार अल-अहराम में ेवाली एक रिपोर्ट भी उनका समर्थन करती है, जो मिस्र के पूर्व ऑफ़ आर्मी स्टाफ़ जनरल अल-मुशीर अबू-ग़ज़ाला ने लिखी है। वे ते हैं, 'पाकिस्तानी सशस्त्र फ़ौज अरबों की हिफ़ाज़त की ज़मानत हैं, की पहुँच इसराईल तक है। इसलिए मआशी परेशानियों से निकालने के अरबों को पाकिस्तान की मदद करनी चाहिए, पाकिस्तान की कामयाबी अरब दुनिया की कामयाबी है।'

फिर अरब दुनिया के मशहूर अख़बार अल-इत्तिहाद में अपने एक और

लेख में जनरल अल-मुशीर अबू-ग़ज़ाला लिखते हैं, 'पाकिस्तान एक ब
जंगी ताक़त है, जिसके पास एटमी वारहैड हैं इसलिए पाकिस्तान
पहुँचनेवाले किसी भी नुक़सान का असर सीधे तौर पर अरब दुनिया
हालत पर पड़ सकता है', जनरल अबू-ग़ज़ाला के इन बयानों से इस ख़
की ताबीर और ज़्यादा निखरकर सामने आ जाती है।

अब्बा जान की आख़िरी बीमारी

बार-बार जेल जाने की वजह से अब्बा जान की सेहत बहुत ज़्य
ख़राब हो गई थी। इसलिए अम्मा जान ने अपने दर्से-क़ुरआन की मसरूफ़ि
काफ़ी कम कर दी थीं। वे मॉडल टाउन लेडीज़ क्लब में 25 साल से दर
रही थीं, जहाँ उन्होंने शागिर्दों की एक टीम तैयार की थी। आख़िरकार
की ज़िम्मेदारी अपने शागिर्दों के हवाले कर दी और सारा वक़्त अब्बा ज
की ख़िदमत में गुज़ारने लगीं। एक दिन वहीं दर्स की मजलिस में किसी
अम्मा जान से पूछा था, 'आपने कितने सबजेक्टों में एम॰ ए॰ किया है?'
कहने लगीं, 'बेटी! एम॰ ए॰, बी॰ ए॰ तो आप लोग हैं। मैंने तो दिल्ली
क्वीन मैरी स्कूल से मिडिल तक पढ़ा है।' उन्होंने पूछा, 'फिर आपके '
इतना इल्म कैसे है?' इस सवाल का अम्मा जान ने यह तारीख़ी जवाब दि
'मैंने ज़िन्दगी एक ऐसे आलिमे-दीन के साथ गुज़ारी है, जिनकी एक घंटे
बातचीत सुनकर आदमी को वह इल्म हासिल हो जाता है, जो लोगों
रात-रात-भर किताबें पढ़कर भी नहीं होता।'

एक बार कुछ औरतें अम्मा जान के पास आईं और क़ौम में अ
आलिमों व लीडरों की कमी की शिकायत की। अम्मा जान ख़ामोशी
उनकी बातें सुनती रहीं। जब वे सबकुछ कह चुकीं जो वे कहना चाहती
तो फिर अम्मा जान ने कहा, 'इस कमी की ज़िम्मेदार यह क़ौम ख़ुद है, व
लीडर और रहनुमा तो इस क़ौम को ऐसे मिले थे, जो दूसरी क़ौमों
कभी-कभी ही मिलते हैं...............इस क़ौम को अल्लामा इक़बाल (
जैसे रहनुमा मिले, जिनको पूरी दुनिया के मुसलमान अपना पेशवा मानते
दूसरे रहनुमा इस क़ौम को मौलाना मौदूदी (रह॰) मिले, जिन्होंने चिन्तन
विचारों की दुनिया में इंक़िलाब पैदा कर दिया, मौजूदा ज़माने के जितने

ायादी मसले हैं, जैसे फ़ितना व फ़साद, बेपर्दगी, सूद (ब्याज), मग़रिबी हूरियत, बर्थ कन्ट्रोल और इन मसलों के ज़रिए से पैदा हुई घुटन, उन्होंने ख़तरनाक बीमारियों की ठीक-ठीक पहचान करके इनका इलाज क़ुरआन, स और रसूल (सल्ल०) की सुन्नत से पेश किया, जो एक बेमिसाल ानामा है, लेकिन इस क़ौम ने उनकी क़द्र नहीं की।'

जब अब्बा जान की बीमारी बढ़ती ही गई, तो उन्होंने हमसे कहा, 'मैंने ने जिस्म पर बहुत ज़ुल्म किए हैं। मैंने इन हड्डियों पर बिलकुल भी तरस खाया। अपनी आँखों को नींद की फ़ितरी ज़रूरत से महरूम रखा। ये ा चाहती थीं, मगर मैं लिखना चाहता था। दिन के वक़्त मेरी सामूहिक दगी की मसरूफ़ियत मुझे लिखने नहीं देती थी, इसलिए ले-देकर एक ही तो होती थी, जब मैं जमकर लिख सकता था। रात के खाने और की नमाज़ के बाद जो काम करने बैठता था तो कभी-कभी फ़ज्र की ान हो जाती थी। अगर ऐसा न करता तो तफ़हीमुल-क़ुरआन कैसे पूरी ी? बस, अब ये आँखें मुझसे बदला ले रही हैं। अब मैं सोना चाहता हूँ, न ये बन्द होने का नाम नहीं लेतीं। इन्हें मैंने जागने की ऐसी आदत दी है कि ये सोने के लिए राज़ी ही नहीं होतीं। चाहता हूँ कि मेरा ज़ेहन ना बन्द कर दे, ताकि सुकून से सो जाऊँ, मगर दिमाग़ को सोचने की आदत डाल चुका हूँ कि यह सोचना बन्द ही नहीं करता। अब मेरी ड्याँ मुझसे इन्तिक़ाम (बदला) ले रही हैं, पहले मैंने इन्हें आराम नहीं ा दिया था, अब ये मुझे आराम नहीं करने देतीं।'

दर्द दूर करनेवाली दवाओं के इस्तेमाल ने उनकी सेहत को चाट लिया एक दिन बातों-बातों में अम्मा जान ने कहा, 'हवा-पानी और जगह ने से शायद आपकी तबीयत सम्भल जाए, इसलिए मैं अम्मन (अहमद क़) से कहती हूँ कि आपको अमरीका ले जाए, ताकि वहाँ इत्मीनान से ज हो।'

अब्बा जान की बीमारी बढ़ती ही गई और फिर आख़िरकार अमरीका से भाई डॉक्टर अहमद फ़ारूक़ आए और ज़िद करके अब्बा जान और ा जान दोनों को 26 मई 1979 ई० को अमरीका ले गए, ताकि वहाँ

रहकर ज़्यादा यकसूई से उनका इलाज करवाया जा सके। अमरीका
महीना-भर ठहरने के बाद, बेहतर इलाज से तबीयत काफ़ी ठीक हुई उ
उन्होंने 'सीरते-सरवरे-आलम' पर पूरी तेज़ी से काम शुरू कर दिया।

साथ ही अमरीका और कनाडा से मुलाक़ात के लिए आनेवालों का
सैलाब उमड़ पड़ा। काफ़ी तादाद में ऐसे लोग आते रहे जो अब्बा जान
लिट्रेचर पढ़कर मुसलमान हुए थे। मशहूर नॉविल The Roots के लेख
ऐलेक्स हेले (Alex Haley) भी काफ़ी दूर तक सफ़र करके मिलने आए
The Roots को ऑटोग्राफ़ के साथ पेश किया। आनेवालों में काले लोग
थे और गोरे भी। मुस्लिम मुल्कों के लोग भी काफ़ी तादाद में आए, जिन्
यही कहा कि हम तो सिर्फ़ नाम के मुसलमान थे, सही तौर पर मुसलम
तो आपका लिट्रेचर पढ़कर हुए हैं।

अब्बा जान को उम्मीद थी कि वे 'सीरते-सरवरे-आलम' पर काम
कर लेंगे, लेकिन 8 सितम्बर 1979 ई॰ को दिल का बहुत तेज़ दौरा प
अभी हालत सम्भलने भी नहीं पाई थी कि 21 सितम्बर को तबीयत
बिगड़ गई और हालत चिन्ताजनक हो गई। जिगर और गुर्दे ने अचा
काम करना छोड़ दिया। आख़िरकार वह घड़ी आ ही गई जिसका अ
यक़ीनी था............22 सितम्बर 1979 ई॰ को बफ़ैलो के अस्पताल
पाकिस्तानी वक़्त के मुताबिक शाम पौने छह बजे अब्बा जान ने अ
जान, जान देनेवाले अपने रब के हवाले कर दी।

> 'ऐ मुत्मइन जान लौट चल अपने रब की तरफ़ तू अपने रब से
> राज़ी है और तेरा रब तुझसे राज़ी।................शामिल हो जा
> मेरे नेंक बन्दों में और दाख़िल हो जा मेरी जन्नत में।'
>
> (क़ुरआन, सूरा-89 फ़ज्र, आयत-27 से 30)

यह दुखद ख़बर लेकर जब अहमद फ़ारूक़ अस्पताल से आए तो वे
से निढाल थे। अम्मा जान ने कमाल हौसले और हिम्मत से काम लेते
सारी रात के जागे हुए भूखे प्यासे ग़मज़दा बेटे को चाय बनाकर पि

स्कुट खिलाए और अपने ग़म को नज़रअन्दाज़ करते हुए बेटे को दिलासा
' हुए कहा, 'शुक्र करो, तुमने अपने बाप को देखा, उनके साए में इतनी
[गुज़ारी, वरना वे तो 1953 ई॰ ही में फाँसी चढ़ने को तैयार हो गए थे।
ार उस वक़्त उन्हें फाँसी दे दी गई होती तो तुम्हें यह याद भी नहीं होता
तुम्हारे अब्बा की शक्ल कैसी थी, उनकी आवाज़ कैसी थी।' अल्लाहु
कबर ऐसा हौसला और अल्लाह पर ऐसा भरोसा!!

फिर, अम्मा जान ने सबको सब्र की नसीहत करते हुए कहा, 'इन्ना
ल्लाहि व इन्ना इलैहि राजिऊन' पढ़ो और बातें न करो।' इसपर सब
ट्ठे होनेवाले मर्द और औरतें हैरान रह गए।

मेरे मामू डॉक्टर जलाल शमसी, टोरंटो (कनाडा) से गाड़ी चलाकर जब
मा जान के पास आए तो ग़म से निढाल थे। मगर वे अम्मा जान को
ेकर हैरान रह गए। कहने लगे, 'आपा जान! मैं टोरंटो से बफ़ैलो
मरीका) तक रोता हुआ आया हूँ, सोचता था कि आपका सामना कैसे
ँगा? आपसे क्या कहूँगा? लेकिन आपको देखकर तो मेरे आँसू सूख गए।
ी ही हैरानी मुझे उस वक़्त होती थी, जब भाई साहब (मौलाना मौदूदी)
[जाते थे और आप छोटे-छोटे बच्चों को लिए इत्मीनान से बैठी रहती
। मुझे बताइए कि आपके पास कौन-सी ताक़त है? आप यह सब कैसे
लेती हैं?'

अम्मा जान ने कहा, 'अल्लाह तआला की ज़ात पर ईमान, भरोसा और
ऐसी ख़ूबियाँ हैं जिनकी मदद से आदमी मुश्किल-से-मुश्किल हालात से
ख़ैरियत के साथ गुज़र सकता है।'

भाई अहमद फ़ारूक़ ने चार्टर जहाज़ करके मय्यित को न्यूयार्क
वाया। इसी दौरान अमरीका में अलग-अलग टेलीविज़न अब्बा जान के
तक़ाल की ख़बर दे चुके थे, इसलिए न्यूयार्क एयरपोर्ट पर बड़ी तादाद में
भेन्न मुल्कों के मुसलमान जनाज़े में शामिल होने के लिए पहुँच गए।
मद फ़ारूक़ ने अम्मा जान को पैसेंजर लॉज में बैठा दिया। इसी दौरान
बहुत सारी पाकिस्तानी, हिन्दुस्तानी, तुर्क, अरब और अफ़्रीक़ी मुल्कों की
तें आ गईं। उनके साथ आनेवाले मर्द बाहर जनाज़ा पढ़ने के लिए खड़े

थे। कुछ पाकिस्तानी औरतों ने जो अम्मा जान के पास ही बैठी हुई आपस में बातें करना शुरू कर दीं, 'बफ़ैलो से बॉडी (यानी मय्यित) अ है, पता नहीं बॉडी पहुँची या नहीं?'

अम्मा जान ने कहा, 'मय्यित पहुँच गई है।' उन औरतों ने चौंक अम्मा जान की तरफ़ देखा और पूछा, 'आपको कैसे पता चला कि मरि पहुँच गई है?' उन्होंने बड़े इत्मीनान से जवाब दिया, 'मैं मय्यित के स आई हूँ।' औरतों ने पूछा, 'आपका उनसे कोई ताल्लुक़ है?' जवाब मि 'वे मेरे शौहर थे।' वे औरतें चीख पड़ीं, 'अरे बेगम साहिबा! आप इ इत्मीनान और सुकून से इतना बड़ा सदमा दिल में लिए बैठी हुई हैं। हम हमारे मर्द सारे रास्ते रोते हुए आए हैं। आपको देखकर तो अल्लाह याद गया', और फिर धीरे-धीरे उन सारी तुर्क, इंडोनेशी, अरब और अफ़्री मुल्कों की औरतों को भी पता चल गया कि यह ख़ातून, मौलाना मौ साहब की बेगम हैं। उन सबने अम्मा जान से ताज़ियत की। अन्दर पैसे लॉज में ये बातें हो रही थीं और बाहर जनाज़े की नमाज़ अदा की जा थी। जगह कम पड़ जाने की वजह से न्यूयार्क एयरपोर्ट पर छह बार ज की नमाज़ पढ़ी गई।

जब जहाज़ लंदन पहुँचा तो वहाँ पूरे यूरोप से मुसलमान जमा थे। भी इसी तरह कई बार जनाज़े की नमाज़ पढ़ी गई। मतलब यह कि अ जान दुनिया से इस शान से रुख़सत हुए कि तीन महाद्वीपों को जगाते ख़ुद अपनी आख़िरी आरामगाह में सो गए। उन्होंने सबकुछ दूसरों के किया। अपनी ज़ात और अपनी औलाद की दुनिया बनाने की कभी नहीं की।

जिस दिन अम्मा जान, मय्यित लेकर लाहौर पहुँचीं तो सब बच्चों तसल्ली दी और सब्र की नसीहत करते हुए कहा, 'उनके लिए न रोओ, मिट्टी का जिस्म तो मैले कपड़ों की तरह है, इसलिए कि जिस्म रूह लिबास होता है। कभी यह लिबास नया था, ख़ूबसूरत था, देखनेवालों भला लगता था, लेकिन फिर यह लिबास पुराना हो गया। इसका रंग फ पड़ गया, जगह-जगह पैवन्द लगाने पड़े, कहीं-कहीं से रफ़ू करना पड़ा

र यह पहनने के लायक़ नहीं रहा और रूह ने इसको उतारकर रख दिया
 इसकी जगह अल्लाह तआला के नूर का लिबास पहन लिया है। अब
ह्रारे अब्बा बिलकुल ठीक हो गए हैं, वे बहुत आराम से हैं और अपने
ल क़द्रदान के पास चले गए हैं। ये तुम जो देख रहे हो, ये तो रूह के
 कपड़े हैं, जो ताबूत में बन्द होकर अमरीका से आए हैं, भला फटे हुए
 कपड़ों पर भी कोई रोता है।'

इस तरह उन्होंने अपने अन्दाज़ में सब बच्चों को तसल्ली दी और सब्र
हिदायत की। उन अलफ़ाज़ में क्या जादू था कि उन्हें सुनते ही हमारे
ू ख़ुश्क हो गए। वे बड़े हौसले के साथ इस सदमे को झेल गईं, लेकिन
: कुछ अर्से बाद ग़म व मायूसी का शिकार हो गईं।

मैं उन दिनों जद्दा में लड़कियों के सऊदी कॉलेज कुल्लियतुल-बनात में
ज़ी ज़बान व अदब पढ़ाती थी और गर्मियों की छुट्टियों में लाहौर आई
थी। अम्मा जान की हालत को देखते हुए, मैं उन्हें ज़िद करके अपने
ा जद्दा ले गई। पहले तो वे मेरे साथ जाने पर राज़ी न हुईं और कहा,
ो के घर भला कैसे जा सकती हूँ!' मैंने बहुत समझाया, 'आपने बेटों की
 पाला-पोसा, बेटों की तरह पढ़ाया-लिखाया, अब मैं बेटों की तरह
ाती हूँ। इसलिए आप मुझे बेटी नहीं, बल्कि बेटा समझें। आपकी
ीनी का इलाज दवाओं में नहीं, मक्का और मदीना की हवाओं में है।'
सुनकर वे चलने पर राज़ी हो गईं। वहाँ पहुँचकर मैंने उनका इक़ामा
ऊदी अरब में रहने के लिए इजाज़तनामा) बनवा लिया, ताकि आने-जाने
ोई परेशानी न हो। पहला ही उमरा करके आईं तो सारी दवाएँ उठाकर
मारी में रख दीं कि अब इनकी ज़रूरत नहीं।

रमज़ानुल-मुबारक में कई उमरे किए और आख़िरी अशरे में हम उनको
र मदीना चले गए। पाकिस्तान हाउस में रहना-सहना था और वह उन
 मस्जिदे-नबवी के बाबुन्निसा के बिलकुल सामने था। अम्मा जान ज़िद
ीं कि सबसे आगेवाली सफ़ (पंक्ति) में जगह लेनी है। इसलिए हम
म-भाग मस्जिद में पहुँचकर अगली सफ़ में जगह लेते थे। इसी
ा-दौड़ी में अकसर ऐसा भी हुआ कि अम्मा जान सहरी के वक़्त दमे की,

या बलडप्रेशर की या एंज़ाइटी की दवाएँ खाना भूल गईं, और सहरी का व
ख़त्म हो गया।

एक दिन मैंने अम्मा जान से कहा, 'दवाएँ ख़ास तौर पर दिल की दव
खाना आप कभी न भूलें, कहीं ऐसा न हो कि आप मस्जिदे-नबवी के सा
पहुँचकर मस्जिद में जाने से महरूम हो जाएँ, तो वे मेरी तरफ़ देखकर ब
हसरत से कहने लगीं—

'वे जो बेचते थे दवा-ए-दिल
वे दुकान अपनी बढ़ा गए।'

मैं वहाँ से थोड़ी देर के लिए चली गई, वापस आई तो देखा मेरा ब
अतहर (जन्म-16 नवम्बर 1971, ई॰ लाहौर), अम्मा जान से पूछ रहा
'अम्मी तो कहती हैं कि नाना अब्बा किताबें लिखते थे और आप कहती
कि वे दिल की दवाएँ बेचते थे।' अम्मा जान इस बच्चे को बड़े प्यार
समझा रही थीं।' 'जो कुछ वे लिखते थे, दिल की दवाई उसी में होती थ

फिर 29 वीं रात आई। यह क़ुरआन पूरा होने की रात थी। पूरे मदी
में और ख़ास तौर पर मस्जिदे-नबवी में तिल धरने को जगह नहीं थी।
लिए हम लोग भी बहुत पहले से इशा की नमाज़ के लिए मस्जिद की प
सफ़ में जा बैठे थे। जमाअत से ज़रा पहले अचानक मस्जिद का इन्तिज़
करनेवाली दो सऊदी औरतें और एक पुलिस का जवान आए और
कड़कदार अन्दाज़ में ज़ोर-ज़ोर से हुक्म देना शुरू किया, पीछे हटो,
हटो। हम सब पीछे देखते तो पूरी जगह इस तरह भरी हुई थी कि थाल फै
तो सरों के ऊपर-ही-ऊपर से फिसलती जाए। आख़िर मुझसे रहा न
और मैंने भी उसी तरह सख़्त अन्दाज़ में पूछा, 'हम पीछे क्यों हटें?' उन
मुझे सऊदी समझते हुए जवाब दिया, 'बहरीन से ख़ास मेहमान आए
मैंने भी इसी तरह सख़्त अन्दाज़ में उतने ही ज़ोर से डाँटकर कहा,

حنا كلنا ضيوف خاص

هذه مسجد الرسول ﷺ ونحن ضيوف رسول ﷺ!

ذا مسجده ليس هو قصرهم

म सब ख़ास मेहमान हैं और यह रसूल (सल्ल॰) की मस्जिद है। हम रसूल ल्ल॰) के मेहमान हैं। यह मस्जिदे-नबवी है, कोई उनका (ख़ास मेहमानों) महल नहीं है।'

मेरे ये कहते ही सारी सऊदी औरतें जो नमाज़ पढ़ने के लिए बैठी थीं क ज़बान होकर बोल उठीं, 'बिलकुल सही, बिलकुल सही खुदा की क़सम! लकुल सही बात है। इतनी देर में जमाअत खड़ी हो गई और हम भी ल्लाहु-अकबर कहते हुए उठकर खड़े हो गए। तीनों पुलिस वर्कर वहाँ से ते गए। लेकिन जब हमने फ़र्ज़ का सलाम फेरा और सऊदी औरतों ने मेरा किस्तानी लिबास देखा तो हैरान होकर पूछा, 'खुदा की क़सम! क्या तुम किस्तानी हो? तुमने अरबी कहाँ से सीखी?' तो मैंने अम्मा जान की तरफ़ ारा किया और कहा, 'अपने अम्मा-अब्बा से' उन औरतों ने यह सुनकर म्मा जान के हाथ चूम लिए। ईद की नमाज़ पढ़कर हम जद्दा के लिए ाना हो गए। वापस आकर मैंने अम्मा जान से पूछा कि आप अपनी ीना की इबादत से खुश तो हैं न? तो बस ठंडा साँस भरकर इतना ही हा—

रूए-गुल सैर नदीदम व बहार आख़िर शुद

मने जी भरकर फूल को देखा भी नहीं कि बहार का मौसम ख़त्म हो गया।)

उन दिनों मेरी बेटी राबिया को मैट्रिक का इम्तिहान देना था। मैं उसे ीहत करती रहती थी, 'बेटी! तुम्हें हर हालत में A ग्रेड लेना है, तैयारी ुत अच्छी और मुकम्मल होनी चाहिए, क्योंकि मैट्रिक के रिज़ल्ट पर ही हारे सारे तालीमी कैरियर का दारोमदार है।' शायद अम्मा जान ने यह बात ाकर पल्ले में बाँध ली थी। फिर जो नमाज़ भी पढ़ती थीं, इतनी लम्बी ती थी कि ख़त्म होने का नाम ही नहीं लेती थी।

एक दिन मैंने पूछा ही लिया, 'आज कल आप नमाज़ों में बहुत ज़्यादा ़नत कर रही हैं, कहीं इतनी लम्बी-लम्बी नमाज़ों के बाद तबीयत ख़राब हो जाए!' उन्होंने इस बात का जो जवाब दिया, वह वही बात थी जो ा एक हफ़्ता पहले राबिया से कही थी। कहने लगीं, 'इम्तिहान तो मुझे भी ा है, और इम्तिहान भी ऐसा जिसपर आख़िरत की पूरी ज़िन्दगी का

दारोमदार है। मैं चाहती हूँ कि हर पर्चे में मेरा भी A ग्रेड आए, यानी
नमाज़ A ग्रेड की हो, हर रोज़ा और हर उमरा A ग्रेड का हो।'

और फिर जब कभी हम लम्बे सफ़र पर जाते थे, जैसे मदीना या ताइ
वग़ैरा तो अम्मा जान गाड़ी के डेश बोर्ड पर क़ुरआन मजीद रख लिया कर
थीं। पूरे रास्ते में कोई बात किए बग़ैर क़ुरआन मजीद की कोई सूरा य
करती रहती थीं। ग़ुंचा है तो गुल हो, गुल है तो गुलिस्ताँ हो, पर अमल क
हुए हर वक़्त अपने इल्म में इज़ाफ़ा करने की कोशिश में लगी रहती थ
इसी कोशिश में एक बार सूरा-48 फ़तूह याद की, एक बार सूरा-18 कह
की पहली दस और आख़िरी दस आयतें ज़बानी याद कीं और मस्जिदे-नब
में पहुँचकर ताज़ा याद की हुई आयतें नमाज़ में पढ़ीं, और फिर नबी (सल्ल
की यह हदीस सुनाई, 'क़ुरआन की सबसे बेहतर तिलावत वह है जो नम
में खड़े होकर की जाए।' जब सूरा-18 कह्फ़ की पहली दस और आख़ि
दस आयतें याद करके मस्जिदे-नबवी में पहली बार नमाज़ में पढ़ी तो क
लगीं, 'ऐसा महसूस होता है कि कोई बहुत बड़ी दौलत है, जो मैंने अ
अन्दर समेट ली है।' थोड़ी देर बाद कहा, 'यक़ीन करो सारी दौलत, स
ताक़त, सारा हुस्न सिंघार और कमाल तो आदमी के अन्दर होता है, बा
कुछ भी नहीं होता। वे बहुत-से लोग जो ये चीज़ें बाहर तलाश करते हैं,
अन्दर से बड़े ग़रीब, बहुत कमज़ोर और बदसूरत होते हैं, इसी लिए तो उ
ये चीज़ें बाहर तलाश करनी पड़ती हैं।'

उस दिन मेरी समझ में आया कि क्यों अम्मा जान ने अब्बा जान
कभी कोई माँग नहीं की, कभी मेकअप नहीं किया और कभी ज़ेवरों
ख़ाहिश नहीं की। अस्ल में उनको ऐसी बनावटी चीज़ों की कोई ज़रूरत
नहीं थी। उनका 'अन्दुरून' इतना मालदार, भरपूर और हसीन था कि बा
उन्हें कुछ चाहिए ही नहीं था।

अम्मा जान की ख़ाहिश थी कि मक्का में भी इसी तरह एक दो ह
रहकर इबादत की जाए। इसलिए मैंने डॉक्टर हाफ़िज़ अब्दुल-हक़ साहब
बेगम फ़रहाना बहन से बात की। मक्का में उनकी रिश्तेदारियाँ उ
जान-पहचानवाले लोग हैं। उन्होंने फ़्लैट का इन्तिज़ाम कर दिया और

के साथ दो हफ़्ते रहीं और उनकी बहुत ख़िदमत की। अम्मा जान की
दत थी कि वे अकसर बात का जवाब शेअर (काव्य) में देती थी। जब
क्का से वापस आईं तो मैंने पूछा कि वहाँ आपकी इबादत कैसी रही है?
ाब मिला—

नमी दानम चे मंज़िल बूद, शब जाए कि मन बूदम
बहर सू रक़्से-बिसमिल बूद, शब जाए कि मन बूदम
ख़ुदा ख़ुद मीर मजलिस बूद, अन्दर ला मकाँ ख़ुसरू
मुहम्मद शमऐ-महफ़िल बूद, शब जाए कि मन बूदम

(मैं नहीं जानता कि वह क्या मंज़िल थी जहाँ मैं रात को था।
हर तरफ़ ज़ख़्मियों के तड़पने का नृत्य जारी था, जहाँ मैं रात
को था। ऐ ख़ुसरू! उस जगह ख़ुदा ख़ुद ही महफ़िल का सदर
था और वहाँ मुहम्मद (सल्ल॰) उस महफ़िल की शमा थे, जहाँ
मैं रात को था।)

अभी मैं सोच ही रही थी कि इस जवाब पर अमीर ख़ुसरू (मृत्यु-1325
) की रूह भी झूम उठी होगी, कि अम्मा जान ने एक और शेअर कहा—

'रुख़े-रौशन के आगे शमा रखकर वे यह कहते हैं
उधर जाता है देखें या इधर परवाना आता है।

फिर मुस्कुराकर कहने लगीं, 'इस शेअर का अस्ल मतलब तो हरम
ीफ़ (मक्का) में जाकर पता चला, जब मैं ख़ाना-काबा की तरफ़ देखती थी
लोग परवानों की तरह तवाफ़ कर रहे होते थे और उन्हें दुनिया और
की चीज़ों का कोई होश नहीं होता था। जब सफ़ा व मरवा में जाकर
ती थी तो सई (तेज़-तेज़ चलना) करनेवाले दीवानों की तरह सई कर रहे
े थे और फिर जब हरम शरीफ़ से वापस अपने फ़्लैट की तरफ़ आ रही
ी थी तो दुकानों में ख़रीदारों की ज़बरदस्त भीड़ होती थी। वहाँ भी
वाने दीवानों की तरह सोना, कपड़ा, ट्राँजिस्टर, घड़ियाँ और घरेलू इस्तेमाल
चीज़ें ख़रीदने के लिए चक्कर लगा रहे होते थे। आख़िरत में कामयाबी
हनेवाले तो अपनी चाहत में दीवाने होकर परवानों की तरह तवाफ़ करने
सफा और मरवा पर सई करने में लगे होते थे और दुनिया के परस्तारों

को उन चीज़ों की चाहत पागल किए देती थी।'

इधर जब पाकिस्तान में असमा, ख़ालिद और आइशा (जन्म-4 म 1956 ई॰, लाहौर) ने बहुत ज़िद की तो वे वापस लाहौर आ गईं, लेकिन उ दिनों को वे कभी न भूलीं जो उन्होंने मक्का और मदीना में गुज़ारे थे।

अम्मा जान

मुझे अब्बा जान की कही हुई एक बात अकसर याद आती है, उन्होंने मेरे मामू ख़्वाजा मुहम्मद शफ़ी मरहूम से कही थी। उस वक़्त अम् जान बहुत बीमार थीं और मामू उनकी ख़ैरियत मालूम करने आए थे। अब जान ने कहा, 'जब लोग नारे लगाते हैं मौलाना मौदूदी ज़िन्दाबा जमाअते-इस्लामी ज़िन्दाबाद! तो मैं अपने दिल में कहता हूँ, महमूदा बेग ज़िन्दाबाद! जब कोई फ़ौज फ़तह हासिल करती है और उसके जनरल फूलों से लाद दिया जाता है, तो उस वक़्त उस गुमनाम सिपाही को कोई य नहीं रखता, जिसने अपनी क़ीमती जान हारकर फ़तह को मुमकिन बना होता है। ज़िन्दाबाद के ऊँचे-ऊँचे नारों में किसी का त्याग, ख़ुद्दा वफ़ादारी, हर किसी की दिलदारी और अपनी ज़ात को नकारना किसको य रहता है!'

अम्मा जान अपने उस्तादों की बहुत इज़्ज़त व सम्मान करती थ दारुल-इस्लाम में रहने के ज़माने में मौलाना अमीन अहसन इस्लाही र (मृत्यु-15 दिसम्बर 1997 ई॰) रोज़ाना असर से मग़रिब तक दर्से-क़ुरअ दिया करते थे। अम्मा जान बड़ी पाबन्दी से उनका दर्स सुना करती थीं अ फिर दर्स से वापस आकर सबक़ याद किया करती थीं। इसी तरह मौला अब्दुल-ग़फ़्फ़ार हसन साहब से हदीस पढ़ी। इन दोनों आलिमों की वे ब इज़्ज़त करती थीं और इनको अपना उस्ताद कहा करती थीं। इसके बाद दोनों के जमाअत से अलग होने का उन्हें बहुत सदमा हुआ था। मौला इस्लाही साहब रह॰ की छोटी बेटी की वे 'रज़ाई माँ' भी थीं। इसके बारे वे कहा करती थीं, 'मेरी तीन नहीं, चार बेटियाँ हैं।'

उनकी यह अदा मैं कभी नहीं भुला पाती कि उन्होंने अपने महान प के महान नाम को कभी भी बेचने की कोशिश नहीं की। अब्बा जान

न्तिक़ाल के बाद राष्ट्रपति जनरल ज़ियाउल-हक़ साहब (मृत्यु-अगस्त 1988 ,) ने अम्मा जान को सीनेट की सदस्यता क़बूल करने और डिप्टी चेयरमैन नने की पेशकश की। इस मक़सद के लिए पहले अतिया इनायतुल्लाह ाहिबा को और बाद में आपा निसार फ़ातिमा को भेजा। अम्मा जान ने ातिया इनायतुल्लाह साहिबा को तो प्यार से टाल दिया, लेकिन जब आपा ासार फ़ातिमा आईं तो उन्हें अपनी पसन्दीदा पंक्ति सुनाई–

'सौदागरी नहीं ये इबादत ख़ुदा की है।'

और फिर कहा, 'यह क़ुरआन और हदीस का इल्म दुनिया कमाने और नियावी पद हासिल करने के लिए नहीं है, यह तो आख़िरत कमाने का ारिआ है।' फिर कहने लगीं, 'मैं अपने नेक नाम शौहर के नाम को 'बाज़ारी ोज़ नहीं बना सकती।' लोग अपनी और अपनी औलाद की दुनिया बनाने ः लिए जीते हैं, लेकिन मौलाना साहब तो अल्लाह के दीन का नाम ऊँचा ारने और उसकी ख़िदमत करने के लिए जीते थे। उनका हाल तो बस ासरुल्लाह ख़ाँ अज़ीज़ के इस शेअर के मुताबिक़ था–

'मेरी ज़िन्दगी का मक़सद तेरे दीं की सरफ़राज़ी,
मैं इसी लिए मुसलमाँ मैं इसी लिए नमाज़ी।'

फिर कहने लगीं, 'इस दुनिया में मुझे और मेरे बच्चों को इस नाम को ाश कराने की कोई ज़रूरत नहीं है। अल्लाह का बड़ा करम है कि उसने हमें ापने दर से बहुत कुछ दे रखा है। इस नाम की ज़रूरत हमें उस दिन होगी जेसके बारे में अल्लाह ने वादा किया है–

> ''जो लोग ईमान लाए हैं और उनकी औलाद भी किसी हद तक ईमान में उनके नक़्शे-क़दम पर चली है, उनकी उस औलाद को भी हम (जन्नत में) उनके साथ मिला देंगे और उनके अमल में कोई घाटा उनको नहीं देंगे।'
>
> (क़ुरआन, सूरा-52 तूर, आयत-21)

'बस मैं तो अल्लाह से दुआ करती हूँ कि वह मेरा और मेरे बच्चों का ांजाम उनके साथ कर दे। हम सबको, अल्लाह के रास्ते में उनकी कोशिशों

और क़ुरबानियों का वारिस बनाए और जन्नतुल-फ़िरदौस में हम सबव
इकट्ठा कर दे। आमीन! बस मौलाना साहब ने अपने ख़ुदा को राज़ी क
लिया और दुनिया की परवाह तक न की— सारे जहान से लड़ाई मोल र्ल
लेकिन अल्लाह को नाराज़ करके कभी लोगों को राज़ी करने की कोशिश नह
की, मुहम्मद अली जौहर (रह०) के मुताबिक़—

'तौहीद तो यह है कि ख़ुदा हश्र में कह दे
यह बन्दा दो आलम से ख़फ़ा मेरे लिए है।'

अम्मा जान के आख़िरी दिन

आख़िरी उम्र में अम्मा जान हर वक़्त अब्बा जान को याद करती थीं
एक बार बहुत तेज़ गर्मी और घुटन थी कि अचानक बिजली चली गई औ
देर तक नहीं आई। अम्मा जान चूँकि दमे की मरीज़ा थीं, इसलिए गर्मी औ
घुटन से उनका बुरा हाल हो गया। बिजली थी कि किसी तरह आने का ना
न लेती थी, इसी हालत में ज़रा-सी आँख लग गई। जब जागीं तो कह
'अभी तुम्हारे अब्बा जान की आवाज़ आई है कि तुम वहाँ गर्मी में क्यों बै
हो, ऊपर आ जाओ न। देखो यहाँ कैसी अच्छी हवा चल रही है।' फिर ब
हसरत से कहने लगीं, 'भला मैं ख़ुद कैसे जा सकती हूँ? यह तो अल्ल
तआला की तरफ़ से बुलावा आना है।'

जब तबीयत ज़्यादा ख़राब हुई तो मेरी छोटी बहन असमा उन्हें अप
घर ले गई जो अब्बा जान के घर के बिलकुल साथ है। कुछ दिन बाद
उन्हें मिलने आई तो मालूम हुआ कि आज अम्मा जान न बात करती हैं अं
न कुछ खा रही हैं। मैंने उनके पास जाकर बस इतना कहा—

'दिल्ली जो एक शहर था आलम में इन्तिख़ाब'

अम्मा जान ने फ़ौरन कहा—

'रहते थे मुन्तख़ब ही जहाँ रोज़गार के
उसको फ़लक ने लूटके वीरान कर दिया
हम रहनेवाले हैं उसी उजड़े दयार के'

मैंने कहा, 'अम्मा जान! कौन कहता है कि आप बीमार हैं? आप
बिलकुल तन्दरुस्त हैं। लीजिए खाना खा लीजिए', फिर वे दिल्ली की ब

रती रहीं और बड़ी ख़ुशी से खाना खा लिया।

इसी तरह एक बार बहुत बीमार थीं और किसी को पहचान भी नहीं रही थीं, बस यही कह रही थीं, 'कूचा पंडित जाना है।' जब मैं गई तो असमा ने पूछा, 'कूचा पंडित क्या है?' मैंने बताया कि यह दिल्ली का एक मशहूर मोहल्ला है जहाँ उनका ससुराल, यानी अब्बा जान का घर था।' उसके बाद मैंने दिल्ली के कई मोहल्लों के नाम लिए, चाँदनी चौक का ज़िक्र किया, बहुत ख़ुश हुईं, लेकिन खाना खाने के लिए बिलकुल तैयार नहीं हुईं। मैंने कहा—

'सोदागरी नहीं, ये इबादत ख़ुदा की है'

अम्मा जान थोड़ी देर तक कुछ सोचती और ज़ेहन पर ज़ोर डालती रहीं और कहा—

ओ बे-ख़बर जज़ा की तमन्ना भी छोड़ दे
वाइज़, कमाले-तर्क में मिलती है याँ मुराद
दुनिया भी छोड़ दी है तो उक़बा भी छोड़ दे

और फिर मेरे हाथ से सूप पी लिया।

आख़िरी दिनों में किसी को पहचानना उनके लिए मुश्किल हो गया था। एक दिन मग़रिब के समय कहने लगीं, 'रोज़ा खोलो! जल्दी करो मस्जिदे-नबवी में तरावीह पढ़नी है, आज क़ुरआन पूरा होने का दिन है, जल्दी करो। अगली सफ़ (पंक्ति) में जगह लेनी है।' फिर कहने लगीं, 'लो देखो, इतनी मुश्किल से पहली सफ़ में जगह मिली है, अब कहते हैं पीछे हटो, ख़ास मेहमान आए हैं। अरे भाई, हम सब ख़ास मेहमान हैं, यह अल्लाह के रसूल की मस्जिद है, किसी का महल नहीं है।'

आसपास सब लोग हैरान थे कि अम्मा जान क्या कह रही हैं, लेकिन मैं समझ गई कि उनकी रूह जगह और ज़माने की क़ैद से आज़ाद होकर इस वक़्त मस्जिदे-नबवी (सल्ल॰) में मौजूद है और वे इस रात को रमज़ान की 29 वीं रात समझ रही हैं। इस दुनिया में यह आख़िरी बात थी जो उन्होंने की, और इसके बाद बिलकुल ख़ामोश हो गईं। इन्ना लिल्लाहि व इन्ना इलैहि राजिऊन।

कहा जाता है कि मौलाना रूम रह॰ (मृत्यु-1273 ई॰) मौत के वक़्त एव
आलिमे-दीन उनको देखने और हाल मालूम करने के लिए आए और कह
लगे, 'फ़िक्र न कीजिए, इन-शा अल्लाह शिफ़ा होगी।' मौलाना रूमी (रह॰
ने जवाब दिया, अब शिफ़ा आपको मुबारक हो, बाल बराबर फ़र्क़ रह गय
है। फिर नूर, नूर में जा मिल जाएगा और मिट्टी, मिट्टी में चली जाएगी-

ख़ाकी व नूरी निहाद बन्दा-ए-मौला सिफ़ात
हर दो जहाँ से ग़नी उसका दिले-बेनियाज़।

अब्बा जान ने 22 सितम्बर 1979 ई॰ को इन्तिक़ाल फ़रमाया और अम्म
जान 4 अप्रैल 2003 ई॰ को जुमे के दिन रात 8:20 बजे इस दुनिया स
रुख़सत हो हुईं और अगले दिन शनिवार को 11:15 बजे मिट्टी में ज
मिलीं।

यह दास्तान मैं अम्मा जान के पसन्दीदा शेअर पर ख़त्म करती हूँ—

सोएँगे हश्र तक कि सबुकदोश हो चुके
बारे-अमानत ग़मे-हस्ती उतार के।

•••